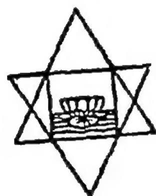
वेद-रहस्य

द्वितीय खण्ड



श्रीअरविन्द

अनुवादक तथा सपादक
आचार्य अभयदेव विद्यालकार

प्रतापनिधि द्वारा प्रकाशित
जून १९४९

प्रथम वार
१००० प्रति

अजिल्द ३)
सजिल्द ४)

प्राक्कथन

वेद-रहस्य के इस द्वितीय खण्ड में, जैसा कि प्रथम खण्ड में सूचित किया जा चुका है, श्रीअरविन्द द्वारा 'आर्य' में लिखित उस लेखमाला का अनुवाद है जो Selected Hymns नाम से प्रकाशित हुई थी। पाठक देखेंगे कि इसमें इन्द्र, मरुत, अग्नि आदि एक एक वैदिक देवता को लेकर उसका असली स्वरूप और ठीक ठीक व्यापार सूक्ष्मतापूर्वक स्पष्ट किया गया है और उदाहरण के तौर पर उसके एक चुने हुए सूक्त का अर्थ और भाष्य देते हुए इसे सुस्पष्ट और प्रमाणित किया गया है। वेद का अनुशीलन करनेवाले जानते हैं कि यदि किसी प्रकार वेद के देवताओं का स्वरूप ठीक निर्धारित हो जाय, वह स्पष्टतया प्रत्यक्ष हो जाय, तो वेद का असली तात्पर्य समझना बहुत सरल हो जाय, शायद समझने की आधी से अधिक कठिनाई दूर हो जाय। इस दृष्टि से देखें तो 'वेद-रहस्य' का यह द्वितीय खण्ड प्रथम खण्ड की अपेक्षा भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ये लेख १९४४ से १९४७ तक 'अदिति' में भी 'वैदिक सूक्तसुधा' शीर्षक से प्रकाशित होते रहे हैं। पुन सशोधित किये जाकर अब प्रथम वार पुस्तकरूप में पाठको के सम्मुख है।

इस खण्ड में भी पूर्ववत् विशिष्ट उल्लेखो की एक महत्त्वपूर्ण तालिका तथा मन्त्रसूची दी गयी है।

शेष जो कुछ वक्तव्य है वह प्रथम खण्ड के प्राक्कथन में दिया जा चुका है, सो पाठको ने पढा ही होगा।

द्वितीय खण्ड

देवताओं का स्वरूप

अध्याय-सूची

इन अध्यायों के कुछ वचन

देव के राज्य में अपने को सिद्ध किये विना ही तुम परे पहुंच जाना चाहते हो।

★

जब निम्न सत्ता अपने आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओ के अर्पण करती चलेगी ठीक तभी यह हो सकता है कि मर्त्य की सीमित तथा अहंभाव से परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीम तथा अमरत्व की अवस्था तक, जो कि उसका लक्ष्य है, पहुच सके।

★

सोमरस रूप से आलकारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहनेवाला जो आनद है उसकी हमारे अदर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञा की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिगत होती है।

★

यह नहीं होना चाहिये कि जरा देर के लिये होनेवाली चमके और चकाचौंध करनेवाली क्षणिक अभिव्यक्तिया हमारे सामने आवे, जो कि हमें अतिक्रमण किये हुए हमारी शक्ति से परे की होने के कारण, सत्य रूप में अपने को व्यक्त करने में अशक्त रहे और हमारे ग्रहणशील मन को गड़बडी में डालती रहें।

तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या वाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो कि देवों के प्रति यज्ञरूप होता है, अपने आपको परिपूर्ण करने की इच्छा रखता है।

पर यह 'कर्म' एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है।

आर्य मनुष्य ऊचाइयों की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रयाण में, जो प्रयाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों है, सघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उसका आर्यत्व है।

*

तब आत्मा इन्द्र की शाति में विश्राम पायगी, जो शाति दिव्य प्रकाश के साथ आती है—इन्द्र की शाति अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्ति की शाति जो कि सपरिपूर्ण चेतना और दिव्य आनद की ऊचाइयो पर स्थित है।

क्योंकि आन्तरिक सवेदनो में अभिव्यक्त हुआ यही अगाध आनद है जो उस दिव्य परमानद को प्रदान करता है जिसमे मनुष्य या देव सबल होते हैं।

*

क्योकि यह प्रकाश, अपनी सपूर्ण महत्ता की अवस्था में सीमा या बाधा से सर्वथा स्वतन्त्र यह प्रकाश, आनद का धाम है, यह शक्ति वह है जो मनुष्य के आत्मा को अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्ध के बीच में से सुरक्षिततया पार कर देती है, यात्रा की समाप्ति पर, इसकी अभीप्सा के अतिम प्राप्तव्य शिखर पर, पहुचा देती है।

पर उसकी यात्रा, प्रगति जैसा कि क्षुद्रतर शक्तिया पसद करती है वैसे सचालित नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह सचालित होनी चाहिये वैसे जैसे कि ऊपर की गुप्त दिव्य प्रज्ञा ने दृढतया सकल्पित और निश्चित किया हुआ है।

*

क्योकि सारी ही रचना एक अभिव्यजन है, उच्चारण है, प्रत्येक वस्तु पहले से ही असीम के गुह्य स्थान में विद्यमान है, गुहाहितम्, और वहा वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूप में लायी जानी है।

*

लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहा हैं वहा से चढकर एक उच्चतर स्तर पर पहुच जाय—

और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रवल सकल्प से अनुसृत होना चाहिये कि उन सवपर जो विरोध करते है तथा मार्ग में रुकावट डालते है हमें विजय प्राप्त करनी है।

पर यह होना चाहिये सर्वांगीण उत्थान।

किसी का भी वर्जन नहीं करना है, सवको दिव्य चेतना के विशुद्ध धरातलो तक उठा ले जाना है।

★

मरुतो की शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अदर इन्द्र की शक्ति प्रतिष्ठित होगी और इन्द्र मानवीय स्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान करेगा, ताकि वह (मानव स्वभाव) आघातो से लडखडा न जाय या प्रवल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीडा को जो कि हमारी सामान्य क्षमता के मुकाविले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियो की तथा इनकी अभीप्साओ की, सम-स्वरता में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के सहस्रो विरोधो को तोडफोड डालने में पर्याप्त सवल होगी और वह मान-वीयता, संघटित व्यक्तित्ववाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य की झाकी तो निरतर मिला करती है पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने सवध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है।

★

हमारे मनोविकार और धुधले भावावेग इस अग्नि के ज्वलन का धुआ है।

यहीं (दिव्य घर) पहुचाने के लिये अग्नि मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्य की आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को ऊपर की तरफ ले जा रहा है।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रिया का जो स्वत-सचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिज्ञ हो गयी है।

आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपरिपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करने से वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है।

तो सत्य के द्वारा ही वास्तविक समस्वरता का, अखण्ड सौख्य का, दिव्य आनद के अदर प्रेम की अतिम कृतार्थता या परिपूर्णता का मार्ग खुल सकता है।

अग्नि एक ज्योति भी है और एक शक्ति भी।

अपनी भट्ठी पर काम करता हुआ यह शिल्पी (अग्नि) हथौडे की चोटें लगा लगाकर हमारी पूर्णता को रच देता है।

वह क्या आर्य है, जो दिव्य सकल्प से, अग्नि से रहित है, उस अग्नि (सकल्प) से जो श्रम को तथा युद्ध को स्वीकार करता है, कार्य करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है?

*

वह (सूर्य) उनके (वस्तुओं के) अदर के सत्य को, उनके अभिप्राय को, उनके प्रयोजन को, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोग को प्रकट करता है।

क्योंकि सभी वस्तुए अपनी सत्ता का कोई समुचित कारण रखती है, अपना उत्तम उपयोग और अपना उचित आनद रखती हैं। जब वस्तुओ के अदर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोग में ले आया जाता है तब सब वस्तुए आत्मा के लिये भद्र को पैदा कर देती है, इसके आनद को बढा देती है, इसके ऐश्वर्य को विशाल बना देती है।

*

दिव्य उषा परम देव का आगमन है। यह है सत्य और परम सुख की ज्योति जो कि हमपर ज्ञान और आनद के अधिपति की तरफ से बरस रही है—अमृतस्य केतु ; स्वसरस्य पत्नी।

*

यदि वस्तुओं के सत्य और औचित्य (सत्य और ऋत) द्वारा हम आनद को पा लेते है तो साथ ही आनद द्वारा हम वस्तुओ के औचित्य और सत्य को भी पा सकते है।

इन अध्यायो के कुछ वचन

यह दिव्य उपभोक्ता (भग) वस्तुओ में, अपने आनद के जिस किसी भी पात्र या विषय में, जिस आनद को ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं कर सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र न ही शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव।

यह वह रचयिता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मा में अपने निजी आनंद के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृष्टि कर देना।

★

यह एकतालबद्ध शब्द ही है जिसने लोकों को सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है या अभिव्यजन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है।

यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्मशक्ति, वृहस्पति, ब्रह्मा, जो आध्यात्मिक ज्योति और मत्री है, उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको इन्द्र, क्रिया का राजदेवता, अनुभव करता हुआ अपने आपपर तथा अपनी सब प्रजा पर उनके सम्मिलित सत्य के अधिकार से शासन करे। ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।

★

जिस प्रकार किसी मनुष्य का शरीर तीव्र मदिरा के सस्पर्श तथा मद से परिपूर्ण हो जाता है उसी प्रकार सारा भौतिक शरीर इस दिव्य आनद के सस्पर्श तथा मद से परिपूरित हो जाता है।

उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बडी से बड़ी अग्नि-ज्वालाओ में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्टसहन और अनुभव द्वारा इसके लिये तैयार नहीं हो पाया है। मिट्टी का कच्चा घड़ा जो कि आवे की आच के द्वारा पककर दृढ नहीं हो गया है सोमरस को नहीं थाम सकता।

पहला अध्याय

इन्द्र और अगस्त्य का संवाद

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १७०

इन्द्र

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ॥१॥

वह (न नूनम् अस्ति) न अब है (नो श्वः) न कल होगा; (तद् क वेद यद् अद्भुतम्) उसे कौन जानता है जो सर्वोच्च और अद्भुत है? (अन्यस्य चित्तम्) अन्य की चेतना (अभि सञ्चरेण्यम्) इसकी गति और क्रिया से सचरित तो होती है, (उत आधीतम्) पर जब विचार द्वारा इसके समीप पहुचा जाता है, तब (वि नश्यति) यह लुप्त हो जाता है ॥१॥

अगस्त्य

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥२॥

(इन्द्र किं न जिघांससि) हे इन्द्र! तू क्यों हमारा वध करना चाहता है? (मरुतः तव भ्रातरः) ये मरुत तेरे भाई है। (तेभिः साधुया कल्पस्व) उनके साथ मिलकर तू पूर्णता को सिद्ध कर; (समरणे) हमें जो संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें (नः मा वधीः) तू हमारा वध मत कर ॥२॥

इन्द्र

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥३॥
अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥४॥

(किं, भ्रातः अगस्त्य) क्यों, ऐ मेरे भाई अगस्त्य! (सखा सन्) तू मेरा मित्र है तो भी (न अतिमन्यसे) अपने विचार को मुझसे परे

रखता है? खैर, (विद्म हि) मैं खूब अच्छी तरह जानता हूं (यथा) कि क्यों तू (ते मन) अपने मन को (अस्मभ्य इत् न दित्ससि) हमें नहीं देना चाहता ॥३॥

वे मरुत (वेदिम् अर कृण्वन्तु) वेदि को तैयार कर लें, (पुर अग्निम् समिन्धताम्) अपने आगे अग्नि को प्रज्वलित कर लें। (तत्र) वहीं अर्थात् उसी अवस्था में (अमृतस्य चेतनम्) चेतना अमरत्व की प्राप्ति के लिये जागृत होगी। आ, (ते यज्ञ तनवावहै) हम दोनो मिलकर तेरे लिये तेरे फलसाधक यज्ञ को फैलायें ॥४॥

अगस्त्य

त्वमीशिषे वसुपते वसूना त्व मित्राणा मित्रपते धेष्ठ।
इन्द्र त्व मरुद्भि स ववस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥५॥

(वसूनां वसुपते) हे वसुओं के, सब जीवन-तत्त्वो के, शासक, वसुपते! (त्वम् ईशिषे) तू शक्ति में स्वामी है। (मित्राणा मित्रपते) हे प्रेमशक्तियो के शासक प्रेमाधिपते! (त्व धेष्ठ) तू स्थिति में प्रतिष्ठित करने के लिये सबसे अधिक सबल है। (इन्द्र) हे इन्द्र! (त्व मरुद्भि सववस्व) तू मरुतों के साथ सहमत हो जा, (अध) और तब (ऋतुथा) सत्य की नियम-क्रम से युक्त पद्धति के अनुसार (हवींषि प्राशान) हवियों का स्वाद ले ॥५॥*

भाष्य

इस सूक्त में जो आधारभूत विचार है उसका सबध आध्यात्मिक प्रगति की एक अवस्था से है, और यह अवस्था वह है जब कि

---

*यह अनुवाद मैं सामान्य पाठको के लिये दे रहा हू। अमुक शब्द का अर्थ अमुक तौर पर मैंने क्यो किया है इसके विस्तार में जाना, इसके लिये भाषाविज्ञानसबधी तथा अन्य प्रकार के प्रमाण देना यहा सभव नहीं होगा और वैसे भी यह थोडे से अन्वेषक विद्वान् लोगों के लिये रुचिकर होगा, इसलिये इसे यहा मैं छोड रहा हू या स्थगित कर रहा हू।

मनुष्य का आत्मा केवलमात्र विचार-शक्ति के द्वारा ही शीघ्रता के साथ आगे बढकर पार हो जाना चाहता है ताकि समय के पहले ही, सचेतन क्रिया की जो क्रमश एक के बाद दूसरी अवस्थाए आती हैं उन सबमें पूर्ण विकास को पाये बिना ही, वह सब वस्तुओ के मूल कारण (स्रोत) तक पहुच जाय। देव जो कि मानव-विश्व और विराट्-विश्व दोनो के शासक हैं उसके इस प्रयत्न का विरोध करते हैं और मनुष्य की चेतना के अदर एक जबर्दस्त सघर्ष चलता है, जिसमें एक तरफ तो अपनी अहभावप्रेरित अति उत्सुकता के साथ व्यक्तिगत आत्मा होता है और दूसरी तरफ विश्व-शक्तिया होती हैं जो कि विश्व के दिव्य उद्देश्य को पूर्ण करना चाह रही होती हैं।

ऐसे क्षण में ऋषि अगस्त्य की, अपनी आन्तर अनुभूति में, इन्द्र से भेंट होती है, जो इन्द्र स्व का अधिपति है और जो 'स्व' है विशुद्ध प्रज्ञा का लोक जिसके बीच में से होकर दिव्य सत्य में पहुचने के लिये आरोहण करते हुए आत्मा को गुजरना होता है।

सर्वप्रथम इन्द्र यह कहता है कि हे अगस्त्य! वस्तुओ का वह मूल स्रोत अविज्ञेय है जिसे पाने के लिये तुम ऐसी अधीरता के साथ यत्नशील हो रहे हो। वह काल में नहीं पाया जा सकता (वह कालातीत है)। वह वर्तमान की वास्तविकताओं के अदर नहीं रहता, न ही वह भविष्य में फलित होनेवाली सभाव्यताओं में है। वह न अब है, न अब के बाद होता है। उसका अस्तित्व देश और काल से अतीत है, और इसलिये वह स्वय उससे नहीं जाना जा सकता जो देश और काल में सीमित है। वह अपने रूपों और अपनी क्रियाओ के द्वारा उसको जो वह स्वय नहीं है (अन्यस्य) चेतना के अदर अपने आपको व्यक्त करता है और उन क्रियाओं का अभिप्राय यह है कि उसकी उन क्रियाओ द्वारा ही उसका साक्षात्कार किया जाना चाहिये। पर यदि कोई सीधा स्वय इसके पास पहुचने का और इसके स्वरूप को अध्ययन करने का यत्न करता है तो झट यह उस विचार में से जो कि इसे ग्रहण करना चाहता है निकलकर

अन्तर्धान हो जाता है और ऐसा हो जाता है मानो यह है ही नहीं (देखो, मन्त्र १)।

अगस्त्य अब तक नहीं समझ पाता कि भला क्यो इस अनुसरण में उसका ऐसा जबर्दस्त विरोध किया गया है, वह तो उसी का अनुसरण कर रहा था जो सब मनुष्यों का अतिम लक्ष्य है और उसके सब विचार तथा उसके सब अनुभव जिसकी माग कर रहे हैं। 'मरुत्' विचार की शक्तियां है जो अपनी प्रगति की सबल तथा दीखने में विनाशक गति के द्वारा इसे जो अब तक निर्मित हुआ है तोड गिराती है तथा नवीन रचनाओं की उपलब्धि में सहायक होती है। इन्द्र, जो विशुद्ध प्रज्ञा की शक्ति है, उन मरुतों का भाई है, अपनी प्रकृति में उनका सजातीय है यद्यपि सत्ता में उनसे ज्येष्ठ है। तो इन्द्र को उन मरुतों के साथ होकर उस पूर्णता को निष्पन्न करना ही चाहिये जिसके लिये अगस्त्य इतना प्रयत्नशील है, उसे शत्रु नहीं बन जाना चाहिये, न ही उसे अपने मित्र (अगस्त्य) का, लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो उसे यह भीषण सघर्ष करना पड रहा है उसमें, वध करना चाहिये (देखो, मन्त्र २)।

इन्द्र उत्तर देता है कि हे अगस्त्य! तुम मेरे मित्र और भाई हो, (आत्मत· अगस्त्य इन्द्र का भाई इस तरह कि ये दोनों एक परम सत्ता के पुत्र है, मित्र इस तरह कि ये दोनों एक प्रयत्न में सहयोगी होते है तथा दिव्य प्रेम में, जो कि देव और मनुष्य को जोडनेवाला है, ये दोनों एक होते हैं), और इसी मित्रता तथा बधुत्व के सहारे तुम उत्तरोत्तर आनेवाली पूर्णता में बढ़ते हुए वर्तमान अवस्था तक पहुच पाये हो, पर अब तुम मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहे हो जैसे कि मै कोई अवर कोटि की, घटिया दर्जे की शक्ति हू और देव के राज्य में अपने को सिद्ध किये बिना ही तुम परे पहुच जाना चाहते हो। क्योकि अगस्त्य अपनी बढी हुई विचार-शक्तियों को सीधे अपने लक्ष्य की तरफ ही फेरना चाहता है, इसकी जगह कि वह उन्हे विराट् प्रज्ञा में सौंप देवे जिससे कि वह विराट प्रज्ञा अपनी सिद्धियों को अगस्त्य द्वारा सारी मानवता

में सुसमृद्ध कर सके तथा अगस्त्य को सत्य के मार्ग पर अग्रसर कर सके। इसलिये इन्द्र कहता है, अहभाव से भरा हुआ प्रयत्न रोक दो, महान् यज्ञ को ग्रहण करो, यज्ञ के प्रधान अंग तथा यात्रा के पथप्रदर्शक के तौर पर अपने आगे अग्नि को, दिव्य शक्ति की ज्वाला को, प्रज्वलित कर लो। मं (इन्द्र) और तुम (अगस्त्य), विराट् शक्ति और मानव आत्मा, दोनो मिलकर फलसाधक आन्तरिक क्रिया को समस्वरता के साथ विशुद्ध प्रज्ञा के स्तर पर विस्तृत करेंगे, ताकि यह क्रिया वहा अपने को सुसमृद्ध कर सके और पार होकर लक्ष्य को पहुंच सके। क्योंकि जब निम्न सत्ता अपने आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओ के अर्पण करती चलेगी, ठीक तभी यह हो सकता है कि मर्त्य की सीमित तथा अहभाव से परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीम तथा अमरत्व की अवस्था तक, जो कि उसका लक्ष्य है, पहुच सके (देखो, मत्र ३, ४)।

अगस्त्य इस देव की इच्छा को स्वीकार कर लेता है और उसे आत्म-समर्पण कर देता है। वह सहमत हो जाता है कि वह इन्द्र की क्रियाओ में भी सर्वोच्च शक्ति को देखे और उसे सिद्ध करे। अपने स्वकीय लोक में इन्द्र जीवन के सब तत्त्वो (वसुओ) का, जो कि मन, प्राण और शरीर के त्रिगुण लोक में अभिव्यक्त होते है, सर्वोच्च अधिपति है और इसलिये शक्ति रखता है कि वह उस दिव्य सत्य की सिद्धि के लिये जो विश्व में अपने को अभिव्यक्त करता है इस त्रिगुण लोक की रचनाओं का—प्रकृति की क्रिया में—उपयोग कर सके—और इन्द्र सर्वोच्च अधिपति है प्रेम और आनद का जो प्रेम और आनंद उसी (मन, प्राण और शरीर के) त्रिगुण लोक में व्यक्त होते है और इसलिये उसमें शक्ति है कि यह इसकी रचनाओ को समस्वरता के साथ—प्रकृति की स्थिति में—यथास्थान स्थापित कर सके। अगस्त्य को जो कुछ भी सिद्धि हुई है उस सबको वह, यज्ञ की हवि की तरह, इन्द्र के हाथो में सौंप देता है ताकि इन्द्र उसे अगस्त्य की चेतना के सुप्रतिष्ठित भागो में धारण करा सके तथा नवीन रचनाओ को करने के लिये उसे गति दे सके। इन्द्र को एक बार फिर, अगस्त्य

के जीवन की ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा-शक्तियों (मरुतों) के साथ मैत्री-सलाप करना है और उस ऋषि के विचारों तथा उस प्रकाश के बीच में, जो प्रकाश कि हम तक विशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आता है, एकता स्थापित करानी है। यह शक्ति (इन्द्र-शक्ति) तब अगस्त्य के अदर यज्ञ की हवियो का उपभोग करेगी, वस्तुओ के उस उचित नियमक्रम के अनुसार जो नियमक्रम उस पार रहनेवाले सत्य से व्यवस्थित तथा शासित होता है (देखो, मत्र ५)।

दूसरा अध्याय

इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ४

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

(सुरूपकृत्नुम्) जो पूर्ण रूपों का निर्माता है (गोदुहे सुदुघामिव) और जो गो-दोहक के लिये एक खूब दूध देनेवाली गौ के समान है उस [इन्द्र] को (ऊतये) वृद्धि के लिये (द्यवि द्यवि जुहूमसि) दिन प्रतिदिन हम पुकारते हैं ॥१॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपा पिब।
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

(नः सवना उप आगहि) हमारी सोम-रस की हवियों के पास आ। (सोमपाः) हे सोम-रसों के पीनेवाले! (सोमस्य पिब) तू सोमरस का पान कर, (रेवत मदः) तेरे दिव्य आनंद का मद (गोदा इत्) सचमुच प्रकाश को देनेवाला है ॥२॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥

(अथ) तब अर्थात् तेरे सोम-पान के पश्चात् (ते अन्तमानां सुमतीनाम्) तेरे चरम सुविचारों में से कुछ को (विद्याम) हम जान पावें। (मा नः अति ख्यः) उनको हमें अतिक्रमण करके मत दर्शा, (आगहि) आ ॥३॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥४॥

(परेहि) आ जा, (इन्द्रं पृच्छ) उस इन्द्र से प्रश्न कर (विपश्चितम्) जो स्पष्टदर्शी-मनवाला है (विग्रम्) जो बड़ा शक्तिशाली है (अस्तृतम्) जो अपराजित है, (यः ते सखिभ्यः) जो तेरे सखाओं के लिये (वरम् आ) उच्चतर सुख को लाया है ॥४॥

के जीवन की ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा-शक्तियों (मरुतो) के साथ मैत्री-सलाप करना है और उस ऋषि के विचारो तथा उस प्रकाश के बीच में, जो प्रकाश कि हम तक विशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आता है, एकता स्थापित करानी है। वह शक्ति (इन्द्र-शक्ति) तब अगस्त्य के अदर यज्ञ की हवियों का उपभोग करेगी, वस्तुओं के उस उचित नियमक्रम के अनुसार जो नियमक्रम उस पार रहनेवाले सत्य से व्यवस्थित तथा शासित होता है (देखो, मंत्र ५)।

दूसरा अध्याय

इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ४

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

(सुरूपकृत्नुम्) जो पूर्ण रूपों का निर्माता है (गोदुहे सुदुघामिव) और जो गो-दोहक के लिये एक खूब दूध देनेवाली गौ के समान है उस [इन्द्र] को (ऊतये) वृद्धि के लिये (द्यवि द्यवि जुहूमसि) दिन प्रतिदिन हम पुकारते हैं ॥१॥

उप न सवना गहि सोमस्य सोमपा पिब।
गोदा इद्रेवतो मद. ॥२॥

(न सवना उप आगहि) हमारी सोम-रस की हवियों के पास आ। (सोमपा) हे सोम-रसो के पीनेवाले! (सोमस्य पिब) तू सोमरस का पान कर, (रेवत मद) तेरे दिव्य आनद का मद (गोदा इत्) सचमुच प्रकाश को देनेवाला है ॥२॥

अथा ते अन्तमाना विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥

(अथ) तब अर्थात् तेरे सोम-पान के पश्चात् (ते अन्तमाना सुमतीनाम्) तेरे चरम सुविचारों में से कुछ को (विद्याम) हम जान पावें। (मा न अति ख्य.) उनको हमें अतिक्रमण करके मत दर्शा, (आगहि) आ ॥३॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥४॥

(परेहि) आ जा, (इन्द्रं पृच्छ) उस इन्द्र से प्रश्न कर (विपश्चितम्) जो स्पष्टद्रष्टा-मनवाला है (विग्रम्) जो बडा शक्तिशाली है (अस्तृतम्) जो अपराभूत है, (य. ते सखिभ्य) जो तेरे सखाओ के लिये (वरम् आ) उच्चतर सुख को लाया है ॥४॥

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥५॥

(उत निदः नः ब्रुवन्तु) और हमारे अवरोधक* भी हमें कहें कि "नहीं, (इन्द्रे इत् दुवः दधाना) इन्द्र में अपनी क्रियाशीलता को निहित करते हुए तुम (अन्यत चित् नि आरत) अन्य क्षेत्रों में भी निकल-कर आगे बढ़ते जाओ" ॥५॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥६॥

(उत) और (दस्म) हे कार्यसाधक! (अरि) योद्धा (कृष्टयः) कर्म के कर्ता† (नः सुभगान् वोचेयुः) हमें पूर्ण सौभाग्यशाली कहें, (इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्याम) हम इन्द्र की शांति में ही रहें ॥६॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन्मन्दयत्सखम् ॥७॥

---

*या निन्दक, 'निद'। 'निद्' धातु, मेरा विचार है, वेद में बंधन, घेरा, सीमा के अर्थ में आयी है, और इसके ये अर्थ होते हैं यह बात पूर्ण निश्चयात्मकता के साथ भाषाविज्ञान द्वारा भी प्रमाणित की जा सकती है। 'निदित', 'निदान' शब्दों का भी, जिनका अर्थ क्रमशः, बद्ध और बंधनरज्जु है, आधार यही धातु है। पर साथ ही इस धातु का अर्थ निन्दा करना भी है। गुह्य कथन की इस अद्भुत शैली के अनुसार विभिन्न संदर्भों में कहीं एक अर्थ प्रधानभूत होकर रहता है कहीं दूसरा, पर कहीं भी एक अर्थ दूसरे अर्थ का पूर्ण बहिष्कार नहीं कर रहा होता।

†'अरि कृष्टयः' का अनुवाद "आर्य लोग" या "रणप्रिय जातियां" भी हो सकता है। 'कृष्टि' और 'चर्षणि' जिनका अर्थ सायण ने "मनुष्य" किया है, बने हैं 'कृष्' तथा 'चर्ष्' धातु से जिनका मूलतः अर्थ होता है 'श्रम, प्रयत्न या श्रमसाध्य कर्म'। इन शब्दों का अर्थ कहीं कहीं 'वैदिक कर्म का कर्ता' और कहीं स्वयं 'कर्म' भी हो जाता है।

(आशवे) तीव्रता के लिये (आशुम्) तीव्र को [ला], (मन्दयत्सखम्) अपने सखा को आनंदित करनेवाले [इन्द्र] को (पतयत्) मार्ग में आगे ले आता हुआ, तू (ईम् नृमादन यज्ञश्रियम् आभर) इस यज्ञश्री को ले आ जो कि मनुष्य को मदयुक्त कर देनेवाली है ॥७॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥८॥

(अस्य पीत्वा) इस [सोम-रस] का पान करके (शतक्रतो) हे सैकड़ों क्रियाओंवाले! (वृत्राणा घन. अभव) तू आवरणकर्ताओं का वध कर डालनेवाला हो गया है, और तूने (वाजिनम्) समृद्ध मन को (वाजेषु) उसकी समृद्धियों में (प्र आव) रक्षित किया है ॥८॥

त त्वा वाजेषु वाजिन वाजयाम शतक्रतो।
धनानामिन्द्र सातये ॥९॥

(वाजेषु वाजिन तं त्वा) अपनी समृद्धियो में समृद्ध हुए उस तुझको (इन्द्र शतक्रतो) हे इन्द्र! हे सैकड़ों क्रियाओवाले! (धनाना सातये) अपने प्राप्त ऐश्वर्यों के सुरक्षित उपभोग के लिये (वाजयाम) हम और अधिक समृद्ध करते हैं ॥९॥

यो रायो वनिर्महान्त्सुपार सुन्वत सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१०॥

(य महान् राय अवनि) जो अपने विशाल रूप में एक दिव्य सुख का धाम है, (सुन्वत सुपार सखा) सोम-प्रदाता का ऐसा सखा है कि उसे सुरक्षित रूप से पार कर देता है, (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्र के प्रति गान करो ॥१०॥

सायण की व्याख्या

१. (सुरूपकृत्नुम्) शोभन रूप [वाले कर्मों] के कर्ता, इन्द्र को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (द्यवि द्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम बुलाते हैं, (गोदुहे सुदुघाम् इव) जैसे गोदोहक के लिये सुष्ठुदोग्ध्री गाय को [कोई बुलाया करता है]।

२. (सोमपा) हे सोम-पान करनेवाले इन्द्र! (न सवना उप आ-गहि) तू हमारे [तीन] सवनों में आ, और (सोमस्य पिब) सोम को पी, (रेवत मद॰) तुझ धनवान् की प्रसन्नता (गोदा इत्) सचमुच गौओ को देनेवाली है अर्थात् जब तू हमसे प्रसन्न हो जाता है तब निश्चय ही हमें बहुत सी गौए देता है।

३ (अथ) उस तेरे सोम-पान के अनतर (ते अन्तमाना सुमतीनाम्) जो तेरे अत्यत समीप है ऐसे सुमतियुक्त पुरुषो के मध्य में [स्थित होकर] (विद्याम) हम तुझे जान ले। (न अति मा ख्य) तू हमें अतिक्रमण करके [अन्यों को अपने स्वरूप का] कथन मत कर, [किंतु] (आगहि) हमारे पास ही आ।

४ होता यजमान से कहता है कि हे यजमान! (परेहि) तू इन्द्र के पास जा और जाकर (इन्द्रम्) उस इन्द्र से (विपश्चितम्) मुझ बुद्धिमान् होता के विषय में (पृच्छ) पूछ [कि मैंने उसकी सम्यक् प्रकार से स्तुति की है वा नहीं], उस इन्द्र से जो कि (विप्रम्) मेधावी है (अस्तृतम्) अहिंसित है और (य ते सखिभ्य) जो तेरे सखाओ [ऋत्विजों] को (वरम्) श्रेष्ठ धन [आप्रयच्छति]* सब तरफ से प्रदान करता है।

५ (न) हमारे [अर्थात् हमारे ऋत्विज] (ब्रुवन्तु) कहें [अर्थात् इन्द्र की स्तुति करें],—(उत) और साथ ही (निद) ओ निन्दा करनेवाले पुरुषो! तुम [यहा से] तथा (अन्यत चित्) अन्य स्थान से भी (नि आरत) बाहर निकल जाओ,—[हमारे ऋत्विज] (इन्द्रे इत् दुव दधाना) इन्द्र की सदैव परिचर्या करनेवाले हों।

६ (दस्म) हे [शत्रुओं के] विनाशक! (अरि॰ उत) हमारे शत्रु तक (न॰ सुभगान् वोचेयु॰) हमें शोभन धनो का मालिक कहें,—(कृष्टय) मनुष्य [अर्थात् हमारे मित्र तो ऐसा कहेंगे ही, इसमें कहना ही क्या], (इन्द्रस्य शर्मणि स्याम इत्) इन्द्र के [प्रसाद से प्राप्त हुए] सुख में हम अवश्य होवे।

---

*इति शेष।

७. हे यजमान! (आशवे) [समस्त सोमयाग में] व्याप्त इन्द्र के लिये (ईम् आभर) इस [सोम] को ला, [जो सोम] (आशुम्) [तीनो सयनो में] व्याप्त होनेवाला है (यज्ञश्रियम्) यज्ञ की सपदा है (नृमादनम्) मनुष्यो, अर्थात् ऋत्विजो व यजमानो को हर्षित करनेवाला है (पतयत्) यज्ञविधियो में आनेवाला है (मन्दयत्सखम्) [यजमान को] आनदित करने-वाले [इन्द्र] का सखा है।

८ (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोवाले इन्द्र! (अस्य पीत्वा) इस सोम के अश को पीकर तू (वृत्राणा घन अभव) वृत्रो का [अर्थात् वृत्र जिनका मुखिया है ऐसे शत्रुओ का] हन्ता बन गया है, और तूने (वाजेषु) रणों में (वाजिनम्) अपने योद्धा भक्त की (प्राव) पूर्णतया रक्षा की है।

९ (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोवाले या अनेक प्रज्ञाओवाले इन्द्र! (धनाना सातये) धनों के सभजन के लिये (वाजेषु) युद्धों में (वाजिन त त्वा) बलवान्* उस तुझको (वाजयाम) हम बहुत सारे अन्नो से युक्त करते है।

---

*देखो कि सायण ८वें मंत्र में 'वाजेषु वाजिनम्' का अर्थ करता है "रणो में योद्धा" और ठीक इससे अगले ही मंत्र में इसी का अर्थ "युद्धो में बलवान्" यह कर देता है। और 'वाजेषु वाजिनं वाजयाम' इस वाक्याश में उसने मूल शब्द 'वाज' के ही भिन्न भिन्न तीन अर्थ कर डाले है, "युद्ध", "बल" और "अन्न"। सायण की शैली की अत्यधिक असंगति-युक्तता का यह एक उदाहरणार्थ नमूना है।

मैंने यहा दोनो (अपने तथा सायण के) अर्थों को इकट्ठा दे दिया है ताकि पाठक दोनो शैलियों की तथा दोनों से निकलनेवाले परिणामो की एक दूसरे के साथ सुगमता से तुलना कर सके। जहा कहीं सायण को अर्थ को पूरा करने के लिये या उसे आसानी से समझ में आने लायक बनाने के लिये अपनी तरफ से अध्याहार करना पडा है उसे मैंने [ ] इस प्रकार के कोष्ठ में प्रदर्शित कर दिया है। वह पाठक भी जो कि

१०. (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्र के स्तुतिगीत गाओ (य.) जो (राय. अवनि·) धन-दौलत का रक्षक है, (महान्) महान् गुणोंवाला है (सुपार·) [कर्मों को] उत्तमता के साथ पूर्ण करनेवाला है, (सुन्वत· सखा) और सोमयाग करनेवाले यजमान का मित्रवत् प्रिय है।

भाष्य

विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि सोम-रस की हवि को लेकर इन्द्र का आवाहन कर रहा है, इन्द्र है प्रकाशमय मन का अधिपति, इन्द्र का आवाहन वह इसलिये कर रहा है कि वह प्रकाश में वृद्धिगत हो सके। इस सूक्त में प्रयुक्त सब प्रतीक सामुदायिक यज्ञ के प्रतीक है। इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय यह है कि इन्द्र आकर सोम का, अमरता के रस का, पान करे और उस सोमपान के द्वारा उसके अदर बल तथा आनद की वृद्धि हो, और उसके परिणामस्वरूप मनुष्य में प्रकाश का उदय हो जाय जिससे कि उसके आन्तरिक ज्ञान में आनेवाली बाधाए हट जाय और वह उन्मुक्त मन के उच्चतम वैभवो को प्राप्त कर ले।

पर यह सोम क्या वस्तु है, जिसे कहीं कहीं अमृत, ग्रीक का अम्ब्रोशिया (Ambrosia) भी कहा गया है, मानो कि यह अपने आपमें अमरता का सार-पदार्थ हो? सोम है, आलकारिक रूप में वर्णित किया हुआ, दिव्य सुख, आनद-तत्त्व, जिसमेंसे, वैदिक विचार के अनुसार, मनुष्य की सत्ता हुई है, यह मानसिक जीवन निकला है। एक गुप्त आनद है जो सत्ता का आधार है, सत्ता को धारण करनेवाला वातावरण या आकाश है, सत्ता का लगभग सार-तत्त्व ही है। इस आनद के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यह दिव्य सुख का आकाश है जो यदि

सस्कृत से अनभ्यस्त है, मैं समझता हू, अकेले इसी नमूने को देखकर, उन युक्तियों का समर्थन कर सकेगा जिनके आधार पर, आधुनिक समालोचक मन को यह युक्तियुक्त जचता है कि वह यह मानने से इन्कार कर दे कि वैदिक सहिता की व्याख्या के लिये सायण एक विश्वसनीय अतिम प्रमाण है।

न हो तो किसी का भी अस्तित्व न रहे†। ऐतरेय उपनिषद् में बताया है कि सोम, चद्रमा के रूप में, विराट् पुरुष के इन्द्रियाधिष्ठित मन से पैदा हुआ है और जब मनुष्य की रचना हुई है तब वही चद्रमा फिर मनुष्य के अदर इन्द्रियाधिष्ठित मन-रूप होकर अभिव्यक्त हो गया है।* क्योकि आनद में ही इन्द्रिय-सवेदन की सप्रयोजनता है, या हम यों कह सकते है कि सत्ता का जो गुप्त आनद है उसे भौतिक चेतना की परिभाषाओ में रूपातरित करने का एक प्रयत्न ही इन्द्रिय-सवेदन है। पर उस भौतिक चेतना,—जो प्राय 'अद्रि' अर्थात् पहाडी, पत्थर या घनीभूत पदार्थ के प्रतीक से निरूपित की गयी है—के अदर दिव्य प्रकाश और दिव्य आनद दोनो ही छिपे और बद हुए पडे है और इन्हे वहा से मुक्त किया जाना या निष्कासित किया जाना है। आनद, रस के रूप में, सार-तत्त्व के रूप में, इन्द्रियाधिष्ठित विषयो तथा इन्द्रियानुभूतियों में, पृथ्वी-प्रकृति की उपज-रूप पौधों व वनस्पतियो में रखा हुआ है, और इन वनस्पतियो में जो रहस्यपूर्ण सोमलता है वह सब इन्द्रिय-क्रियाओ तथा उनके सुखभोगो के पीछे रहनेवाले उस तत्त्व का प्रतीक है जो दिव्य रस को देता है, जिससे दिव्य रस निचोडा जाता है। इस दिव्य रस को इसमेंसे क्षरित करना होता है और एक बार क्षरित हो जाय तो फिर इसे विशुद्ध करना और तीव्र बनाना होता है जब तक कि यह प्रकाशयुक्त, किरणो से परिपूर्ण, आशु-गति से परिपूर्ण, बल से परिपूर्ण, 'गोमन्', 'आशु', 'युवाकु' न हो जाय। यह सोम का दिव्य रस देवो का मुख्य भोजन बन जाता है, जो देव सोम-हवि के लिये बुलाये जाने पर, आकर आनद का अपना भाग ग्रहण करते है और उस दिव्य आनद के बल में वे मनुष्य के अदर प्रवृद्ध होते

---

†देखो तै० २।७—"को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।"

*देखो ऐत० खण्ड १।२—"मनसश्चन्द्रमा"।...."चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदय प्राविशत्।"

है, मनुष्य को उसकी उच्चतम सभावनाओ तक ऊचा उठा देते हैं और उसे दिव्य उच्च अनुभूतियो को पा सकने योग्य बना देते है। जो अपने अदर के आनद को हवि बनाकर दिव्य शक्तियो के लिये अर्पित नहीं कर देते, बल्कि अपने आपको इन्द्रियो तथा निम्न जीवन के लिये सुरक्षित रखना पसद करते है वे देवो के पूजक नहीं किंतु पणियो के पूजक हैं, जो पणि इन्द्रिय-चेतना के अधिपति है, इस चेतना की सीमित क्रियाओ में व्यवहार करनेवाले है, जो रहस्यपूर्ण सोम-रस को नहीं निचोडते है, विशुद्ध हवि को अर्पित नहीं करते है, पवित्र गान को नहीं गाते है। ये पणि ही है जो प्रकाशमयी चेतना की दिव्य किरणो को, सूर्य की उन जगमगाती गौओं को, हमारे पास से चुरा ले जाते हैं, और उन्हे ले जाकर अवचेतन की गुफा में, भौतिकता की घनी पहाडी में, बद कर देते है, और देवशुनी सरमा, प्रकाशमय अन्तर्ज्ञान, जब उन गौओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते करते पणियों की गुफा के पास पहुचती है तब उस तक को जो कलुषित करते हैं।

पर इस सूक्त में जो विचार दिया गया है वह हमारी आन्तरिक प्रगति की एक विशेष अवस्था से सबध रखता है। यह अवस्था वह है जब कि पणियों का अतिक्रमण किया जा चुका है और 'वृत्र' या 'आच्छादक' भी जो कि हमसे हमारी पूर्ण शक्तियो तथा क्रियाओ को पृथक् किये रखता है और 'बल' भी जो कि प्रकाश को हमसे रोके रखता है, पराजित हो चुके है। परतु अब भी कुछ ऐसी शक्तिया है जो हमारी पूर्णता के मार्ग में बाधक बनकर आ खडी होती है। वे है सीमा में बाधनेवाली शक्तिया, अवरोधक या निन्दक, जो यद्यपि समग्ररूप में किरणो को छिपा या बलों को रोक तो नहीं लेते, पर तो भी हमारी आत्म-अभिव्यक्ति की त्रुटियों पर निरतर बल देने के द्वारा वे यह यत्न करते है कि इस (आत्म-अभिव्यक्ति) का क्षेत्र सीमित हो जाय और वे अब तक सिद्ध हुए आन्तरिक विकास को आगे आनेवाले विकास के लिये साधक बना देते हैं। तो मधुच्छन्दस् ऋषि इन्द्र का आवाहन कर रहा

है कि वह आकर इस दोष को निवृत्त कर दे और इसके स्थान पर एक वृद्धिशील प्रकाश् को स्थिर कर दे।

वह तत्त्व जो यहां 'इन्द्र' नाम से सूचित किया गया है मन शक्ति है जो कि प्राणमय चेतना की सीमितताओं और धुधलेपन से मुक्त है। यह वह प्रकाशमयी प्रज्ञा है जो विचार या क्रिया के उन सत्य और पूर्ण रूपों को निर्मित करती है जो प्राण के आवेगों से विकृत नहीं होते, इन्द्रियो के मिथ्याभावो से प्रतिहत नहीं होते। उपमा यहा एक गाय की दी गयी है जो गाय गोदोग्घा को प्रचुर मात्रा में दूध देनेवाली है, दोग्ध्री है। 'गो' शब्द के सस्कृत में दोनो अर्थ होते है, एक गाय और दूसरा प्रकाश की किरण। वैदिक प्रतीकवादियो ने इस द्विविध अर्थ का प्रयोग एक दोहरे रूपक को दिखाने के लिये किया है और वह रूपक उनके लिये निरा अलकार ही नहीं है बल्कि विशेष अर्थ को रखता है; क्योंकि प्रकाश, उनकी दृष्टि में, कविता के लिये सुलभ तौर पर प्रयुक्त किया जानेवाला केवल विचार का एक चित्रमात्र नहीं है बल्कि सचमुच के अपने भौतिक रूप को भी रखता है। इस प्रकार 'गौएं' जो दुही जाती है, सूर्य की गौएं है, जो सूर्य है स्वत प्रकाशयुक्त और अन्तर्ज्ञानियुक्त मन का अधिपति; या वे गौए उषा की गौए है, जो उषा वह देवी है जो सौर महिमा को अभिव्यक्त किया करती है। ऋषि इन्द्र से यह कामना कर रहा है कि हे इन्द्र! तू मेरे पास आ और अपनी पूर्णतर क्रियाशीलता द्वारा अपनी किरणो को अत्यधिक मात्रा में मेरे ग्रहणशील मन पर डालता हुआ तू मेरे अदर दिन प्रतिदिन सत्य के इस प्रकाश की वृद्धि को करता जा। (मत्र १)

सोम-रस रूप से आलकारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहनेवाला जो आनद है उसकी हमारे अंदर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञा की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिगत हो जाती है। क्योंकि वह प्रज्ञा इसी पर फलती फूलती है, इसकी क्रिया अन्त प्रेरणा का एक मदयुक्त आनद बन जाती है जिसके

है, मनुष्य को उसकी उच्चतम सभावनाओं तक ऊचा उठा देते हैं और उसे दिव्य उच्च अनुभूतियो को पा सकने योग्य बना देते हैं। जो अपने अंदर के आनद को हवि बनाकर दिव्य शक्तियो के लिये अर्पित नहीं कर देते, बल्कि अपने आपको इन्द्रियों तथा निम्न जीवन के लिये सुरक्षित रखना पसद करते है वे देवो के पूजक नहीं किंतु पणियो के पूजक है, जो पणि इन्द्रिय-चेतना के अधिपति है, इस चेतना की सीमित क्रियाओं में व्यवहार करनेवाले है, जो रहस्यपूर्ण सोम-रस को नहीं निचोडते है, विशुद्ध हवि को अर्पित नहीं करते है, पवित्र गान को नहीं गाते है। ये पणि ही हैं जो प्रकाशमयी चेतना की दिव्य किरणो को, सूर्य की उन जगमगाती गौओ को, हमारे पास से चुरा ले जाते हैं, और उन्हें ले जाकर अवचेतन की गुफा में, भौतिकता की घनी पहाडी में, बद कर देते है, और देवशुनी सरमा, प्रकाशमय अन्तर्ज्ञान, जब उन गौओ के पदचिह्नों का अनुसरण करते करते पणियों की गुफा के पास पहुचती है तब उस तक को जो कलुषित करते हैं।

पर इस सूक्त में जो विचार दिया गया है वह हमारी आन्तरिक प्रगति की एक विशेष अवस्था से सबध रखता है। यह अवस्था वह है जब कि पणियों का अतिक्रमण किया जा चुका है और 'वृत्र' या 'आच्छादक' भी जो कि हमसे हमारी पूर्ण शक्तियों तथा क्रियाओं को पृथक् किये रखता है और 'वल' भी जो कि प्रकाश को हमसे रोके रखता है, पराजित हो चुके है। परतु अब भी कुछ ऐसी शक्तिया है जो हमारी पूर्णता के मार्ग में बाधक बनकर आ खडी होती है। वे है सीमा में बांधनेवाली शक्तियां, अवरोधक या निन्दक, जो यद्यपि समग्ररूप में किरणो को छिपा या बलो को रोक तो नहीं लेते, पर तो भी हमारी आत्म-अभिव्यक्ति की त्रुटियो पर निरतर बल देने के द्वारा वे यह यत्न करते है कि इस (आत्म-अभिव्यक्ति) का क्षेत्र सीमित हो जाय और वे अब तक सिद्ध हुए आन्तरिक विकास को आगे आनेवाले विकास के लिये बाधक बना देते हैं। तो मधुच्छन्दस् ऋषि इन्द्र का आवाहन कर रहा

है कि वह आकर इस दोष को निवृत्त कर दे और इसके स्थान पर एक वृद्धिशील प्रकाश को स्थिर कर दे।

वह तत्त्व जो यहा 'इन्द्र' नाम से सूचित किया गया है मन शक्ति है जो कि प्राणमय चेतना की सीमितताओ और धुधलेपन से मुक्त है। यह वह प्रकाशमयी प्रज्ञा है जो विचार या क्रिया के उन सत्य और पूर्ण रूपों को निर्मित करती है जो प्राण के आवेगों से विकृत नहीं होते, इन्द्रियों के मिथ्याभावों से प्रतिहत नहीं होते। उपमा यहा एक गाय की दी गयी है जो गाय गोदोग्धा को प्रचुर मात्रा में दूध देनेवाली है, दोग्ध्री है। 'गो' शब्द के सस्कृत में दोनो अर्थ होते है, एक गाय और दूसरा प्रकाश की किरण। वैदिक प्रतीकवादियो ने इस द्विविध अर्थ का प्रयोग एक दोहरे रूपक को दिखाने के लिये किया है और वह रूपक उनके लिये निरा अलकार ही नहीं है बल्कि विशेष अर्थ को रखता है; क्योकि प्रकाश, उनकी दृष्टि में, कविता के लिये सुलभ तौर पर प्रयुक्त किया जानेवाला केवल विचार का एक चित्रमात्र नहीं है बल्कि सचमुच के अपने भौतिक रूप को भी रखता है। इस प्रकार 'गौए' जो दुही जाती है, सूर्य की गौए है, जो सूर्य है स्वत.प्रकाशयुक्त और अन्तर्ज्ञानयुक्त मन का अधिपति, या वे गौए उषा की गौए है, जो उषा वह देवी है जो सौर महिमा को अभिव्यक्त किया करती है। ऋषि इन्द्र से यह कामना कर रहा है कि हे इन्द्र! तू मेरे पास आ और अपनी पूर्णतर क्रियाशीलता द्वारा अपनी किरणो को अत्यधिक मात्रा में मेरे ग्रहणशील मन पर डालता हुआ तू मेरे अदर दिन प्रतिदिन सत्य के इस प्रकाश की वृद्धि को करता जा। (मत्र १)

सोम-रस रूप से आलकारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहनेवाला जो आनद है उसकी हमारे अदर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञा की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिगत हो जाती है। क्योंकि वह प्रज्ञा इसी पर फलती फूलती है, इसकी क्रिया अन्त प्रेरणा का एक मदयुक्त आनद बन जाती है जिसके

द्वारा किरणें प्रचुरता के साथ और उल्लास के साथ प्रवाहित होती हुई अंदर आती हैं। "जब तू आनंद में होता है तब तेरा मद सचमुच प्रकाश को देनेवाला होता है", गोदा इद् रेवतो मद। (मन्त्र २)

क्योंकि तभी यह संभव होता है कि उन बाधाओ को जिन्हें अवरोधक शक्तिया अब भी आग्रहपूर्वक बीच में डाले हुए है, तोड फोडकर, परे जाकर ज्ञान के उन अंतिम तत्त्वों के कुछ अश तक पहुचा जा सके जो कि प्रकाशमय प्रज्ञा में ही सभव है। सत्य विचार, सत्य सवेदनशीलताए–यह है 'सुमति' शब्द का पूर्ण अभिप्राय, क्योंकि वैदिक 'मति' में केवल विचार ही नहीं बल्कि इसमें मनोवृत्ति के भावमय अश भी सम्मिलित है। 'सुमति' है विचारो के अदर प्रकाश का होना, साथ ही यह आत्मा में होनेवाली प्रकाशयुक्त प्रसन्नता और दयालुता भी है। परतु इस सदर्भ में अर्थ का बल सत्य विचार पर है, न कि मनोभावों पर। तो भी यह आवश्यक है कि सत्य विचार में प्रगति उस चेतना के क्षेत्र में ही प्रारभ हो जानी चाहिये जिस चेतना तक हम पहुचे हुए हो, यह नहीं होना चाहिये कि जरा देर के लिये होनेवाली चमके और चकाचौंध करनेवाली क्षणिक अभिव्यक्तिया हमारे सामने आवे जो कि हमें अतिक्रमण किये हुए, हमारी शक्ति से परे की होने के कारण सत्य रूप में अपने को व्यक्त करने में अशक्त रहें और हमारे ग्रहणशील मन को गडबडी में डालती रहें। इन्द्र को केवल प्रकाशक ही नहीं होना चाहिये किंतु सत्यविचार-रूपों का रचयिता, सुरूपकृत्नु भी होना चाहिये। (मन्त्र ३)

आगे ऋषि सामुदायिक योग के अपने किसी साथी की ओर अभिमुख होके, या सभवत अपने ही मन को सबोधन करता हुआ, उसे (साथी को या अपने मन को) प्रोत्साहित करता है कि आ, तू इन उलटे सुझावों की बाधा को जो तेरे विरोध में खडी की गयी है पार करके आगे बढ़ जा और दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) से पूछ पूछकर उस सर्वोच्च सुख तक पहुच जा जिसे कि इस प्रज्ञा द्वारा अन्य पहले भी पा चुके हैं। क्योंकि यह वह प्रज्ञा है जो स्पष्टतया विवेक कर सकती है और जो सब गडबडियो

व धुधलेपनो को, जो अब तक भी विद्यमान हैं, हल कर सकती या हटा सकती है। गति में तीव्र, प्रचण्ड, शक्तिशाली होती हुई यह, अपनी शक्ति के कारण, प्राणमय चेतना के आवेगों की तरह अपने मार्गों में स्खलन को प्राप्त नहीं होती (अस्तृतम्) अथवा इसकी अपेक्षा यह आशय हो सकता है कि अपनी अपराजेय शक्ति के कारण यह आक्रमणो के वशीभूत नहीं होती, वे आक्रमण आच्छादको (वृत्रो) के हों या उन शक्तियो के जो सीमा में बाधनेवाली है। (मंत्र ४)

इसके आगे उन फलो का वर्णन किया गया है जिन्हें पाने को ऋषि अभीप्सा करता है। इस पूर्णतर प्रकाश के हो जाने से, जो कि मानसिक ज्ञान के अंतिम रूपो के आ जाने पर खुलकर प्रकट हो जाता है, यह होगा कि बाधा की शक्तियां संतुष्ट हो जायंगी तथा स्वयमेव आगे से हट जायगी तथा और अधिक उन्नति और नवीन प्रकाशपूर्ण प्रगतियो को आने के लिये रास्ता दे देंगी। फलत वे कहेंगी, "लो, अब तुम्हें वह अधिकार दिया जाता है जिस अधिकार को अब तक हम, उचित तौर से ही, तुम्हें नहीं दे रही थीं। तो अब न केवल उन क्षेत्रो में जिन्हें तुम पहले ही जीत चुके हो बल्कि अन्य क्षेत्रों में तथा अक्षुण्ण पडे प्रदेशों में अपनी विजयशील यात्रा को जारी करो। अपनी यह क्रिया पूर्णरूप से दिव्य प्रज्ञा को समर्पित करो, न कि अपनी निम्न शक्तियों को। क्योंकि यह महत्तर समर्पण ही है जो तुम्हें महत्तर अधिकार प्रदान करता है।"

'आरत' शब्द जिसका अर्थ गति करना या यत्न करना है, अपने सजातीय 'अरि', 'अर्य', 'आर्य', 'अरति', 'अरण' शब्दो की तरह वेद के केंद्रभूत विचार को अभिव्यक्त करनेवाला है। 'अर्' धातु हमेशा प्रयत्न की या सघर्ष की गति को अथवा सर्वातिशायी उच्चता की या श्रेष्ठता की अवस्था को निर्दिष्ट करती है, यह नाव खेना, हल चलाना, युद्ध करना, ऊपर उठाना, ऊपर चढ़ना अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या बाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो कि देवो के प्रति यज्ञरूप होता है, अपने आपको परिपूर्ण

करने की इच्छा रखता है। पर यह कर्म एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है। आर्य मनुष्य ऊचाइयो की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रयाण में, जो प्रयाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों है, सघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उसका आर्यत्व है, 'अर्' धातु से ही निष्पन्न एक ग्रीक शब्द को प्रयुक्त करें तो यही उसका 'अरेटे (Arete)' गुण है। 'आरत' का अवशिष्ट वाक्याश के साथ मिलाकर यह अनुवाद किया जा सकता है कि, "निकल चलो और सघर्ष करके अन्य क्षेत्रों में आगे बढ़ते जाओ।" (मत्र ५)

शब्द-प्रतिध्वनियो द्वारा विचार-सबधो को सूचित करने की सूक्ष्म वैदिक पद्धति के अनुसार इसी विचार को अगले मत्र के 'अरि कृष्टय' शब्दों द्वारा फिर उठाया गया है। मेरे विचार में ये 'अरि' कृष्टय.' कोई पृथ्वी पर रहनेवाली आर्य जातियां नहीं हैं (यद्यपि यह अर्थ भी सभव है जब कि समूहात्मक या राष्ट्रगत योग का विचार अभिप्रेत हो) बल्कि ये शक्तिया हैं जो कि मनुष्य को उसके ऊर्ध्वारोहण में सहायता देती हैं, ये उसके आध्यात्मिक सबधु हैं जो उसके साथ सखा, मित्र, बधु, सहयोगी (सखाय, युज, जामय) के रूप में बधे हुए है, क्योंकि जो उसकी अभीप्सा है वही उनकी अभीप्सा है और उसकी पूर्णता द्वारा वे परिपूर्ण होते हैं। जैसे अवरोधक शक्तिया सतुष्ट हो गयी है और उन्होंने रास्ता दे दिया है वैसे ही उनको भी सतुष्ट होकर अन्तत अपने उस कार्य की पूर्ति घोषित करनी चाहिये जो पूर्ति मानवीय आनद की पूर्णता द्वारा ससिद्ध हुई है। और तब आत्मा इन्द्र की शाति में विश्राम पायगी, जो शाति दिव्य प्रकाश के साथ आती है—इन्द्र की शाति अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्ति की शाति जो कि सपरिपूर्ण चेतना और दिव्य आनद की ऊचाइयो पर स्थित है। (मत्र ६)

इसलिये दिव्य आनद वेगयुक्त तथा तीव्र किया जाने के लिये आधार में उडेला गया है और इन्द्र को, उसकी तीव्रताओं में सहायक होने के

लिये, समर्पित कर दिया गया है। क्योंकि आन्तरिक संवेदनों में अभिव्यक्त हुआ यही अगाध आनंद है जो उस दिव्य परमानंद को प्रदान करता है जिससे मनुष्य या देव सबल होता है। दिव्य प्रज्ञा अब समर्थ होगी कि वह अभी तक अपूर्ण रही अपनी यात्रा में आगे बढ सके और वह देव के मित्र के प्रति अवरोहण करती हुई आनंद की नवीन शक्तियो के रूप में प्रतिदान करेगी। अर्थात् इन्द्र अब और आगे बढ सकेगा तथा सोमपान के बदले में सखा को ऊपर से आनेवाला आनंद प्रदान कर सकेगा। (मंत्र ७)

क्योंकि यही बल था जिसको प्राप्त करके मनुष्यस्थ दिव्य मन ने उन सबको नष्ट किया था जो आच्छादक या अवरोधक होकर इसके संकल्प और विचार की शतगुणित प्रगतियों में बाधा डालते थे, इसी बल के द्वारा इसने बाद में उन भरपूर तथा विविध ऐश्वर्यों की रक्षा की जो पहले हुए युद्धों में, 'अत्रियों' और 'दस्युओं' से—अर्थात् उनसे जो अधिगत ऐश्वर्यों को हड़प जाने और लूट लेनेवाले हैं—जीते जा चुके थे। (मंत्र ८)

ऋषि मधुच्छन्दस् अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कहता है कि यद्यपि वह प्रज्ञा पहले से ही इस प्रकार समृद्ध और विविधतया संभृत हुई हुई है तो भी हम अवरोधको को और वृत्रो को हटाकर इसकी समृद्धि की शक्ति को और अधिक वृद्धिगत करना चाहते हैं ताकि हमें निश्चिततया तथा भरपूर रूप में अपने ऐश्वर्यों की प्राप्तिया हो सके। (मंत्र ९)

क्योंकि यह प्रकाश, अपनी संपूर्ण महत्ता की अवस्था में सीमा या बाधा से सर्वथा स्वतंत्र यह प्रकाश, आनंद का धाम है, यह शक्ति वह है जो मनुष्य के आत्मा को अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्ध के बीच में से सुरक्षिततया पार कर देती है, यात्रा की समाप्ति पर, इसकी अभीप्सा के अंतिम प्राप्तव्य शिखर पर, पहुंचा देती है। (मंत्र १०)

तीसरा अध्याय

इन्द्र और विचार-शक्तियां

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १७१

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम्।
रराणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेडो धत्त वि मुचध्वमश्वान् ॥१॥

(व प्रति) तुम्हारे प्रति (एना नमसा) इस नमन के साथ (अह एमि) मै आता हू, (सूक्तेन) पूर्ण शब्द के द्वारा (तुराणाम्) उनसे जो कि मार्गातिक्रमण में तीव्रगतिवाले हैं (सुमति भिक्षे) मै सत्य मनोवृत्ति की याचना करता हू। (मरुत) हे मरुतो! (वेद्याभि रराणत) ज्ञान की वस्तुओं में आनद लो, (हेड) अपने क्रोध को (निधत्त) एक तरफ रख दो, (अश्वान्) अपने घोडों को (विमुचध्वम्) खोल दो ॥१॥

एष व स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवा.।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूय हि ष्ठा नमस इद् वृधास ॥२॥

(मरुत) हे मरुतो! (एष व स्तोम) देखो, यह तुम्हारा स्तोत्र है, (नमस्वान्) यह मेरे नमन से परिपूर्ण है, (हृदा तष्ट) यह हृदय द्वारा रचा गया था, (देवा) हे देवो! (मनसा धायि) यह मन द्वारा धारण किया गया था, (इमा उपयात) इन मेरे वचनों के पास पहुचो (मनसा जुषाणा) और इन्हें मन द्वारा सेवित करो, (हि) क्योंकि (यूयम्) तुम (नमस) नमन के* (इद्) निश्चयपूर्वक (वृधास ष्ठा) बढानेवाले हो ॥२॥

---

*सायण ने यहा सर्वत्र 'नमस्' का वही अपना प्रिय अर्थ 'अन्न' किया है, क्योंकि "प्रणाम के बढ़ानेवाले" यह अर्थ, स्पष्ट ही, नहीं हो सकता। इस सदर्भ से तथा अन्य कई सदर्भो से यह स्पष्ट है कि यह शब्द नमस्कार के भौतिक अर्थ के पीछे अपने साथ एक आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है जो अर्थ कि यहा साफ तौर पर अपनी मूर्त प्रतिमा छोड़कर सामने आ गया है।

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शभविष्ठ·।
ऊर्ध्वा न. सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ॥३॥

(स्तुतास· मरुत·) स्तुति किये हुए मरुत (न मृळयन्तु) हमें सुखप्रद हो (उत स्तुत मघवा) स्तुति किया हुआ ऐश्वर्य का अधिपति [इन्द्र] तो (शभविष्ठ) पूर्णतया सुख का रचयिता हो गया है। (न कोम्या वनानि) हमारे वांछनीय आनद* (ऊर्ध्वा सन्तु) ऊपर की ओर उत्थित हो जाय, (मरुत.) हे मरुतो! (विश्वा अहानि) हमारे सब दिन (जिगीषा) विजयेच्छा के द्वारा (ऊर्ध्वा सन्तु) ऊपर की ओर उत्थित हो जाय ॥३॥

अस्मादह तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमान ।
युष्मभ्य हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृळता न. ॥४॥

(अस्मात् तविषाद् ईषमाण) इस महाशक्तिशाली द्वारा अधिकृत हुए हुए (अहम्) मैंने (इन्द्राद् भिया रेजमान) इन्द्र के भय से कापते हुए, (मरुत) हे मरुतो! (युष्मभ्य हव्या निशितानि आसन्) जो हविया तुम्हारे लिये तीव्र बनाकर रखी हुई थीं (तानि) उनको (आरे चकृम) दूर रख दिया है। (न मृळत) हमपर कृपा करो ॥४॥

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभि स्थविर. सहोदा ॥५॥

(येन) जिसके द्वारा (मानास) मन की गतिया (व्युष्टिषु) हमारे प्रभातकालों में (शश्वतीना शवसा†) शाश्वतिक उषाओ की प्रकाशमयी

---

*'वन' शब्द के दोनो अर्थ है "जगल" और "सुखभोग" या विशेषण के रूप में ले तो "सुखभोग" के योग्य। वेद में प्राय यह द्विविध अर्थ को लिये हुए आता है—हमारी भौतिक सत्ता की "सुखदायी वृद्धियां", रोमाणि पृथिव्या ।

†वेद में सामर्थ्य, बल, शक्ति के लिये बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं और उनमेंसे प्रत्येक अपने साथ एक विशेष सूक्ष्म अर्थभेद को रखता है।

शक्ति के द्वारा (चितयन्त) सचेतन और (उस्रा‡) प्रकाश से जगमगाती हुई हो जाती हैं (स वृषभ*) उस तूने हे गौओ के पति! (मरुद्भि) मरुतों के साथ मिलकर (न श्रव धा) हमारे अदर अन्त प्रेरित ज्ञान को निहित कर दिया है,-(उग्रेभि) उन बलशालियों के साथ मिलकर उस तूने जो कि (उग्र) बलशाली (स्थविर) स्थिर और (सहोदा) बलप्रदाता है ।।५।।

त्व पाहीन्द्र सहीयसो नृन् भवा मरुद्भिरवयातहेडा ।
सुप्रकेतेभि सासहिर्दधानो विद्यामेष वृजन जीरदानुम् ।।६।।

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वम्) तू (सहीयस) वृद्धिगत बलवाली (नृन्†) शक्तियो की (पाहि) रक्षा कर, (मरुद्भि अवयातहेडा भव) मरुतों के

'शवस्' शब्द प्राय शक्ति के साथ प्रकाश के अर्थ को भी देता है।

‡स्त्रीलिंग में 'उस्रा' यह शब्द 'गो' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसके एक साथ दोनो अर्थ हैं, गाय और प्रकाश की किरण। 'उषा' भी गोमती है अर्थात् किरणो से परिवृत या सूर्य की गौओ से युक्त। मूल मत्र में 'उस्रा' के साथ मेल मिलाकर एक अर्थगर्भित प्रयोग किया गया है 'उस्रा व्युष्टिषु', यह वैदिक ऋषियो द्वारा प्रयुक्त उन सामान्य प्रयोगों में से एक है जो ऐसे विचार या सबध को ध्वनित करते है जिसे ऋषि स्पष्ट तौर से खोल देना आवश्यक नहीं समझते।

*'वृषभ' का अर्थ है बैल, पुरुष, अधिपति या वीर्यशाली। इन्द्र को सतत रूप से 'वृषभ' या 'वृषन्' कहा गया है। कहीं यह शब्द अकेला स्वय प्रयुक्त हुआ होता है जैसे कि यहा, और कहीं इसके विधेय के तौर पर प्रयुक्त किसी दूसरे शब्द के साथ में, जो उसके साथ गौओ के विचार को ध्वनित करने के लिये आता है जैसे "वृषभ मतीनाम्" अर्थात् 'विचारो का अधिपति', जहां स्पष्ट ही बैल और गौओ का रूपक अभिप्रेत है।

†'नृ' शब्द का अर्थ प्रतीत होता है आरभ में क्रियाशील, वेगवान् या दृढ़ यह था। हमारे सामने 'नृम्ण' शब्द है जिसका अर्थ बल है, और

प्रति जो तेरा क्रोध है उसे दूर कर दे, (सासहि) जो तू शक्ति में परिपूर्ण (सुप्रकेतेभि·) सत्य बोध से युक्त उन [मरुतों] के द्वारा (दधान·) धारण किया हुआ है। हम (वृजनम् इष विद्याम) उस प्रबल प्रेरणा को प्राप्त कर लें (जीरदानुम्) जो कि वेगपूर्वक बाधाओं को छिन्न भिन्न कर देनेवाली है ॥६॥

भाष्य

यह सूक्त इन्द्र और अगस्त्य के सवाद का उत्तरवर्ती सूक्त है और अगस्त्य की तरफ से कहा गया है। इसमें अगस्त्य मरुतो को मना रहा, प्रसन्न कर रहा है, क्योकि उसने उनके यज्ञ को शक्ततर देव (इन्द्र) के आदेश से बीच में रोक दिया था। अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष रूप से विचार की दृष्टि से इस सूक्त का सबध इसी (पहले) मण्डल के १६५वे सूक्त के साथ है, यह १६५वा सूक्त इन्द्र और मरुतो का सवादरूप है, जिसमें स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की सर्वोच्चता घोषित की गयी है और इन अपेक्षाकृत अल्प प्रकाशमान मरुतों को उसके अधीन शक्तिया स्वीकार किया गया है जो कि मनुष्यो को इन्द्र से सबधित उच्च सत्यो की तरफ प्रेरित करती है।

"इनके (मनुष्यो के) चित्रविचित्र प्रकाशवाले विचारो को अपने प्राण का बल देते हुए इनके अदर मेरे (मुझ इन्द्र के) सत्यो को ज्ञान में प्रेरित करनेवाले बन जाओ। जब कर्ता कर्म के लिये क्रियाशील हो जाय और विचारक की प्रज्ञा हमें उसके अदर रच दे तब, हे मरुतो! निश्चिततया तुम प्रकाशयुक्त द्रष्टा (विप्र) के प्रति गति करने लगो"*—ये है उस सवाद

'नृतमा नृणाम्' जिसका अर्थ है शक्तियो में सबसे अधिक शक्तिशाली। बाद में इसका अर्थ 'पुरुष' या 'मनुष्य' हो गया और वेद में यह प्राय उन देवो के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि पुरुष-शक्तिया है, जो प्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व करती है, और जिनके मुकाबले में स्त्रीलिंगी शक्तिया है 'ग्ना' या 'गना'।

* ..मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषा भूत नवेदा म ऋतानाम् ॥
आ यद् दुवस्याद् दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छ... (१.१६५.१३,१४)

के अंतिम शब्द, उन अल्पतर देवों (मरुतों) को दिया गया इन्द्र का अंतिम आदेश।

ये ऋचाए पर्याप्त स्पष्ट तौर पर मरुतो के आध्यात्मिक व्यापार को निश्चित कर देती है, मरुत तत्त्वत विचार के देवता नहीं बल्कि शक्ति के देवता है, तो भी उन की शक्तिया सफल होती है मन के अदर। साधारण अशिक्षित (अदीक्षित) आर्य पुजारी के लिये ये मरुत वायु, आधी और वर्षा की शक्तिया थीं, ये आधी-तूफान के ही रूपक है जो उनके लिये प्राय प्रयुक्त किये गये है और उन्हें 'रुद्र' अर्थात् उग्र, प्रचण्ड कहा गया है,—जो 'रुद्र' नाम मरुतो के साथ शक्ति के देवता अग्नि को भी दिया गया है। यद्यपि कहीं कहीं इन्द्र को मरुतो में ज्येष्ठ वर्णित किया गया है,—इन्द्रज्येष्ठो मरुद्गण,—तो भी पहले यही प्रतीत होगा कि ये अपेक्षया वायु के लोक से सबध रखते है—वायु जो कि पवन देवता है, जो वैदिक सप्रदाय में जीवन का अधिपति है, प्राण नाम से वर्णित उस जीवन-श्वास या क्रियाशील बल का स्रोत और प्रेरक है जो कि मनुष्य के अदर वातिक और प्राणमय क्रियाओ से द्योतित होता है। पर यह उनके स्वरूप का केवल एक भाग है। भ्राजिष्णुता, उग्रता से किसी भी प्रकार कम नहीं, उनकी विशेषता है। उनसे सबधित प्रत्येक वस्तु तेजोयुक्त है, वे स्वय, उनके चमकीले शस्त्रास्त्र, उनके स्वर्णिल आभूषण, उनके देदीप्यमान रथ सब भ्राजमान है। न केवल वे वर्षा को, जलो को, आकाशीय विपुल ऐश्वर्य को नीचे भेजते है, और नवीन प्रगतियो तथा नवीन निर्माणो के वास्ते मार्ग बनाने के लिये दृढ से दृढ वस्तुओ को तोड गिराते है, बल्कि अन्य देवों, इन्द्र, मित्र, वरुण की तरह जिनके साथ कि वे इन व्यापारो में सह-भागी होते है, वे भी सत्य के सखा है, प्रकाश के रचयिता है। इसी लिये ऋषि गोतम राहूगण उनसे प्रार्थना करता है —

> यूय तत्सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्ष ॥
> गूहता गुह्य तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥
>
> ऋग्० १८६.९,१०

"सत्य के तेजोमय बल से युक्त मरुतो! अपनी शक्तिशालिता से तुम उसे अभिव्यक्त कर दो, अपने विद्युद्-वज्र से राक्षस को विद्ध कर दो। आवरण डालनेवाले अंधकार को छिपा दो, प्रत्येक भक्षक को दूर हटा दो, उस प्रकाश को रच दो जिसे हम चाह रहे हैं।"

और एक दूसरे सूक्त में अगस्त्य उन्हें कहता है—

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः।
१.१६६.२

"वे अपने साथ (आनंद के) माधुर्य को लिये हुए हैं, जैसे कि अपने शाश्वत पुत्र को लिये हों, और अपना खेल खेल रहे हैं, वे जो कि ज्ञान की क्रियाओं में तेजस्वी हैं।"

मरुत, इसलिये, शक्तियां हैं मनोवृत्ति की, ये वे शक्तियां हैं जो ज्ञान में सहायक होती हैं। स्थिरीभूत सत्य, प्रभृत प्रकाश उनमें नहीं है, उनके पास है गति, खोज, विद्युद्दीप्ति और जब सत्य प्राप्त हो जाता है तब उनके पृथक् पृथक् प्रकाशों का अनेकविध खेल।

हम देख चुके हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र के साथ अपने संवाद में एक से अधिक बार मरुतों की चर्चा की है। उन्हें इन्द्र का भाई कहा है और यह कहा है कि इन्द्र को अगस्त्य पर जब कि वह पूर्णता के लिये संघर्ष कर रहा है, प्रहार नहीं करना चाहिये। उस पूर्णताप्राप्ति में मरुत उसके (इन्द्र के) उपकरण हैं, और क्योंकि ऐसा है इसलिये इन्द्र को उनका उपयोग करना चाहिये। और समर्पण तथा मैत्रीसंधान की अंत की उक्ति में अगस्त्य इन्द्र से प्रार्थना करता है कि तू फिर मरुतों के साथ संलाप कर और उनके साथ एकमत हो जा ताकि यज्ञ दिव्य सत्य की क्रिया और नियमक्रम में आगे उस तरफ चल सके जिस तरफ यह चलाया गया है। उस समय अगस्त्य के अंदर जो संकट पैदा हुआ था जिसने कि उसके मन पर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा उसका स्वरूप एक उग्र संघर्ष का था, जिसमें कि उच्चतर दिव्य शक्ति (इन्द्र) ने अगस्त्य तथा मरुतों का सामना किया और उनकी रभसपूर्ण प्रगति का विरोध किया। इस अवसर पर

दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) जो कि विश्व पर शासन करती है, तथा अगस्त्य के मन की रभसपूर्ण अभीप्साशक्तियों (मरुतों) के बीच में परस्पर एक रोष तथा कलह चलता रहा। दोनों ही शक्तिया मानवसत्ता को अपने लक्ष्य पर पहुचाना चाहती है। पर उसकी यात्रा, प्रगति जैसा कि क्षुद्रतर दिव्य शक्तिया (मरुत) पसद करती हैं वैसे सचालित नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह सचालित होनी चाहिये वैसे जैसे कि ऊपर की गुप्त दिव्य प्रज्ञा (जो कि अभिव्यक्तीकृत प्रज्ञा पर सदा अधिकार रखती है) ने दृढतया सकल्पित और निश्चित किया हुआ है। इसलिये मानवसत्ता (अगस्त्य) का मन बृहत्तर शक्तियो के लिये एक रणक्षेत्र बना रहा है और अभी तक वह अनुभूति के त्रास और भय से काप रहा है।

इन्द्र को समर्पण किया जा चुका है, अगस्त्य अब (इस सूक्त में) मरुतों से विनती कर रहा है कि वे मैत्री-सधान की शर्तें स्वीकार कर ले ताकि उसकी आन्तरिक जीवन की पूर्ण समस्वरता फिर से स्थापित हो जाय। वह उस समर्पण के साथ जो कि वह महान् देव (इन्द्र) को कर चुका है मरुतों के पास आता है और उसे (नमन को) उनके तेजो-युक्त सैन्य तक विस्तृत करता है। मानसिक अवस्था की तथा इसकी शक्तियों की पूर्णता जिसे अगस्त्य चाह रहा है, उनकी निर्मलता, सरलता, सत्यदर्शन की शक्ति तब तक सभव नहीं है जब तक उच्चतर ज्ञान के प्रति गमन करने में विचार-शक्तियो (मरुतो) का तीव्र वेग न प्राप्त हो जाय। पर ज्ञान के प्रति वह गति जब गलत तरीके से चलायी गयी, समुचित प्रकार से प्रकाशमय नहीं हुई, तब वह इन्द्र के जबर्दस्त विरोध द्वारा रुक गयी है और कुछ समय के लिये अगस्त्य की मनोवृत्ति से पृथक् हो गयी है। इस प्रकार बाधा पाकर मरुत अगस्त्य को छोड अन्य यज्ञ-कर्ताओ के पास चले गये है, अब अन्यत्र ही उनके देदीप्यमान रथ चमकते है, अन्य क्षेत्रों में ही उनके वायुवेग घोड़ों के सुम वज्रनिर्घोष करते है। ऋषि उनसे प्रार्थना कर रहा है कि अपने रोष को एक तरफ रख दो, एक बार फिर ज्ञान के अनुसरण में और इसकी क्रियाओ में आनद लो,

अब और अधिक मुझे छोडकर परे मत जाओ, अपने घोड़ो को खोल दो, यज्ञ के आसन पर अवतीर्ण हो जाओ और वहा अपना स्थान ग्रहण करो, हवियों के अपने भाग को स्वीकार करो (देखो, मन्त्र १)।

यह फिर अपने अदर इन शोभाशाली शक्तियों (मरुतो) को सुस्थित, दृढ़ करना चाहता है, और यह एक स्तोत्र है जो कि वह उनके प्रति अर्पित कर रहा है, वैदिक ऋषियों का 'स्तोम' है। रहस्यवादियो की पद्धति में, जो कि भारतीय योग के सप्रदायो में आशिकतया बची हुई है, शब्द एक शक्ति है, शब्द रचना किया करता है। क्योकि सारी ही रचना एक अभिव्यंजन है, उच्चारण है, प्रत्येक वस्तु पहले से ही असीम के गुह्य स्थान में विद्यमान है, गुहा हितम्, और वहा वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूप में लायी जानी है। वैदिक विचार के भी कुछ सप्रदाय लोकों को शब्द की देवी (वाग्देवी) द्वारा रचित हुआ मानते है और यह समझते है कि ध्वनि प्रथम आकाशीय कपन के रूप में रचना की पूर्ववर्ती हुआ करती है। स्वयं वेद में ही ऐसे सदर्भ मिलते है जो पवित्र मत्रो के कवितात्मक छन्दो—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री—को उन छन्दों व स्वरो का प्रतीकभूत कहते है जिनमें वस्तुओ की विश्वव्यापी गति ढाली गयी है।

तो शब्दोच्चारण द्वारा हम रचना करते है और मनुष्यों के लिये तो यह भी कहा गया है कि वे मत्र द्वारा अपने अदर देवो को रचित करते हैं। फिर, उसे जिसे हमने अपनी चेतना के अदर शब्द द्वारा रचा है, हम वहा शब्द द्वारा सुस्थापित भी कर सकते है कि वह हमारी आत्मा का अग बन जाय और न केवल हमारे आन्तरिक जीवन में बल्कि बाह्य भौतिक जगत् पर भी प्रभाव डालनेवाला हो जाय। उच्चारण द्वारा हम रचते है, स्तोत्र द्वारा स्थापित करते है। उच्चारण की एक शक्ति के तौर पर शब्द को 'गी' या 'वचस्' नाम दिया जाता है, स्तोत्र की शक्ति के तौर पर 'स्तोम'। दोनो ही रूपो में इसे 'मन्म' या 'मत्र' और 'ब्रह्म' यह नाम दिया गया है, 'मन्म' या 'मत्र' का अर्थ है मन के अदर विचार

का व्यक्तीकरण और 'ब्रह्म' का अर्थ है हृदय या आत्मा का व्यक्तीकरण। (क्योंकि 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रारंभिक अर्थ यही रहा प्रतीत होता है, बाद में यह परमात्मा या विराट् सत्ता के लिये प्रयुक्त होने लगा।)

मंत्र के निर्माण की पद्धति दूसरी ऋचा में वर्णित की गयी है और इसकी फलसाधकता के लिये जो आवश्यक शर्तें हैं वे भी वहां बता दी गयी हैं। अगस्त्य मरुतों को स्तोम अर्पित करता है, जो एक साथ स्तुति और समर्पण दोनों का स्तोत्र हैं। हृदय द्वारा रचा गया यह स्तोम, मन द्वारा संपुष्ट होकर मनोवृत्ति के अंदर अपने समुचित स्थान को प्राप्त करता है। मंत्र यद्यपि मन के अंदर विचार को अभिव्यक्त करता है तथापि यह अपने तात्त्विक अंश में बुद्धि की रचना नहीं है। पवित्र तथा फलोत्पादक शब्द होने के लिये आवश्यक है कि मंत्र अन्तःप्रेरणा के रूप में अतिमानस लोक से, जिसे वेद में 'ऋतम्' अर्थात् सत्य नाम दिया गया है, आया हो और या तो हृदय द्वारा या प्रकाशमयी प्रज्ञा, मनीषा द्वारा बाह्य चेतना के अंदर गृहीत हुआ हो। हृदय, वैदिक अध्यात्मविज्ञान में, भावावेशों के स्थान तक ही सीमित नहीं है, यह स्वतःप्रवृत्त मनोवृत्ति के, हमारे अंदर अवचेतन के अधिक से अधिक समीप पहुंचे हुए उस सारे विशाल प्रदेश को समाविष्ट किये हुए है, जिसमें से संवेदन, भावावेश, सहजज्ञान, आवेग उठते हैं और वे सब अन्तर्ज्ञान तथा अन्तःप्रेरणाएं उठती हैं जो कि प्रज्ञा में ठीक रूप में पहुंचने से पहले इन उपकरणों में से गुजरकर आती हैं। यह है वेद और वेदान्त का "हृदय", जिसके वाचक शब्द वेद में 'हृदय', 'हृद्' या 'ब्रह्मन्' हैं। उस हृदय के अंदर, मनुष्य की जैसी वर्तमान अवस्था है उसमें, 'पुरुष' केंद्रभूत होकर आसीन हुआ माना गया है। अवचेतन की विशालता के समीप उस हृदय में, सामान्य मनुष्य के अंदर—उस मनुष्य के जो कि अभी तक उन्नत होकर उस उच्च लोक तक नहीं पहुंचा है जहां कि असीम के साथ संपर्क प्रकाशमय और घनिष्ठतायुक्त तथा साक्षात् हो जाता है—विराट् आत्मा की अन्तः-प्रेरणाएं अधिकतम आसानी के साथ अंदर प्रविष्ट हो सकती हैं और

अत्यधिक तीव्रता के साथ व्यक्तिगत आत्मा पर अधिकार पा सकती है। इसलिये यह हृदय की शक्ति द्वारा ही होता है कि मंत्र रचित होता है। परंतु इस मंत्र को हृदय के बोध में ही नहीं किंतु साथ ही मन (प्रज्ञा) के विचार में भी ग्रहण करना तथा धारण करना होता है, क्योंकि वह विचार का सत्य जिसे शब्द का सत्य अभिव्यक्त करता है तब तक दृढता-पूर्वक अधिगत नहीं किया जा सकता या तब तक सामान्यत फलसाधक नहीं हो सकता जब तक कि प्रज्ञा इसे ग्रहण नहीं कर लेती बल्कि अंडे की तरह उसे से नहीं लेती। हृदय द्वारा विरचित होकर यह मन द्वारा सुस्थित किया जाता है।

पर एक और अनुमोदन भी अपेक्षित है। वैयक्तिक मन ने स्वीकृति दे दी है, विश्व की फलसाधक शक्तियों की भी स्वीकृति मिलनी चाहिये। मन द्वारा धारण किये गये स्तोत्र के शब्दों ने एक नवीन मानसिक स्थिति के लिये आधार को सुरक्षित कर दिया है जिसमेंसे भविष्य में आनेवाली विचार-शक्तियों ने प्रकट होना है। मरुतों को आवश्यक तौर पर उन (स्तोत्र के शब्दों) के पास पहुंचना चाहिये तथा उनको अपना आधार बनाना चाहिये, इन विराट् शक्तियों का जो मन है उसे व्यक्तिगत मन की रचनाओं को स्वीकृति देनी चाहिये तथा उनके साथ अपने आपको जोड़ना चाहिये। केवल इसी तरह हमारी आन्तरिक या हमारी बाह्य क्रिया अपनी उच्च फलसाधकता को प्राप्त कर सकती है।

न ही मरुतों के पास कोई कारण है कि क्यों वे अपनी अनुमति देने से इन्कार करें या अपने विरोध को और लंबे काल तक जारी रखने पर आग्रह करें। दिव्य शक्तियां जो स्वयमेव व्यक्तिगत आवेग की अपेक्षा एक उच्चतर नियम का पालन करती हैं, यह उनका कार्य होना चाहिये, जैसा कि यह उनका नैसर्गिक स्वभाव है, कि वे मर्त्य को बाध्य करें कि वह अमर के प्रति अपना समर्पण कर दे और सत्य की, उस बृहत् की आज्ञा-पालकता को अपने अंदर बढ़ाये जिसके प्रति उसकी मानवीय शक्तियां अभीप्सा कर रही हैं (देखो, मंत्र २)।

इन्द्र स्तुत और स्वीकृत हो चुकने के बाद अब मर्त्य के साथ अपने ससर्ग में कष्टप्रद नहीं रहा है, दिव्य सस्पर्श अब पूर्णतया शाति और सुख का सृजन करनेवाला हो गया है। मरुतो को भी, स्तुत और स्वीकृत हो जाने पर, अपनी हिंसा को एक तरफ रख देना चाहिये। अपने सौम्य रूपों को धारण करके, अपनी क्रिया में सुखप्रद होकर, आत्मा को कष्ट तथा बाधाओं के बीच में से न ले जाते हुए, उन्हें भी प्रबल के साथ साथ विशुद्ध रूप से उपकारशील सहायक बन जाना चाहिये।

इस पूर्ण समस्वरता के स्थापित हो चुकने पर, अगस्त्य का योग विजय के साथ अपने लिये निर्दिष्ट किये हुए नवीन तथा सरल मार्ग पर चल पडेगा। लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहा है वहा से चढ़कर एक उच्चतर स्तर पर पहुच जाय,—उस स्तर पर जो कि विभक्त तथा अह-भावपूर्ण सवेदन, भावावेश, विचार और क्रिया के सामान्य जीवन की अपेक्षा उच्चतर है। और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रबल सकल्प से अनुसृत होना चाहिये कि उन सबपर जो विरोध करते है तथा मार्ग में रुकावट डालते है हमें विजय प्राप्त करनी है। पर यह होना चाहिये सर्वाङ्गीण उत्थान। सब सुख (वनानि) जिन्हे मनुष्य पाना चाहता है और मनुष्य की जागृत चेतना की—वेद की सक्षिप्त प्रतीकात्मक भाषा में कहें तो उसके 'दिनों' की—सभी क्रियाशील शक्तिया उस उच्च स्तर तक उठ जानी चाहियें। 'वनानि' से अभिप्रेत है वे ग्रहणशील सवेदन जो कि सब बाह्य विषयों में आनद को प्राप्त करना चाहते है, जिस आनद के अन्वेषण के लिये ही उनकी सत्ता है। ये सवेदन भी बहिष्कृत नहीं ही रखे गये है। किसी का भी वर्जन नहीं करना है, सबको दिव्य चेतना के विशुद्ध धरा-तलों तक उठा ले जाना है (देखो, मन्त्र ३)।

पहले अगस्त्य ने मरुतो के लिये दूसरी अवस्थाओं में हवि तैयार की थी। उसके अदर जो कुछ भी था जिसे वह इन विचार-शक्तियो (मरुतों) के हाथों में रख देना चाहता था उस सबको उसने इसके लिये खोल दिया था कि मरुत उसमें अपनी गर्भित शक्ति का पूर्णतम उपयोग कर

सके, पर उसकी हवि में दोष होने के कारण मध्य-मार्ग में ही उसके सामने एक बड़ा शक्तिशाली देव (इन्द्र) शत्रु के तौर पर आ पहुंचा था और केवल भय तथा महान् कष्ट के पश्चात् ही अगस्त्य की आंखें खुली थीं और उसके आत्मा ने समर्पण कर दिया था। अब तक भी उस अनुभूति के भावोद्वेगों से कांप रहा, वह बाध्य कर दिया गया था कि उन क्रियाओं का अब वह परित्याग कर दे जिन्हें उसने ऐसी प्रबलता के साथ तैयार किया था। पर अब वह फिर मरुतों को हवि देने लगा है, किंतु अब की बार उसने उस शानदार नाम के साथ और भी अधिक प्रबल 'इन्द्र के देवत्व' को जोड़ लिया है। तो मरुतों को चाहिये कि वे उस पहली हवि में भंग पड़ने के लिये रोष न करें, बल्कि इस नवीन और अपेक्षाकृत अधिक उचित तौर पर सुझाये गये कर्म को स्वीकार कर लें (देखो, मंत्र ४)।

अगस्त्य अंतिम दो ऋचाओं में मरुतों से हटकर इन्द्र के अभिमुख होता है। मरुत मानवीय मनोवृत्ति के प्रगतिशील प्रकाश के प्रतिनिधि हैं, जब तक कि मन की गतियां अपनी प्रथम धुंधली गतियों से, जो कि ठीक अभी अवचेतन के अंधकार में से बाहर निकली है, उस प्रकाशमयी चेतना की प्रतिमा में रूपांतरित नहीं हो जातीं जिस चेतना का 'इन्द्र' पुरुष है, प्रतिनिध्यात्मक सत्ता है। धुंधलेपन से निकल वे (मन की गतियां) सचेतन हो जाती हैं, सध्याकालीन जैसे अल्प प्रकाश से प्रकाशित, अर्धप्रकाशित या भ्रांतिजनक प्रतिबिंबों में परिणत हुई अवस्था से ऊपर उठ वे इन अपूर्णताओं को अतिक्रान्त कर जाती हैं और दिव्य ज्योति को धारण कर लेती हैं। यह इतना बड़ा विकास काल में क्रमशः सिद्ध होता है, मानवीय आत्मा के प्रभातों में, उषाओं के अविच्छिन्न क्रमिक आगमन के द्वारा सिद्ध होता है। क्योंकि उषा वेद में मनुष्य की भौतिक चेतना में दिव्य प्रकाश के नूतन आगमनों की प्रतीकभूत देवी है। वह अपनी बहिन रात्रि के साथ बारी बारी से आया करती है, परंतु वह स्वयं अंधकारमयी भी प्रकाश की एक जननी है और सर्वदा उषा उसे ही प्रकट

करने आया करती है जिसे इस काली भौंओवाली माता (रात्रि) ने तैयार कर रखा होता है। तो भी यहां ऋषि सतत उषाओं का वर्णन करता प्रतीत होता है, इन प्रतीयमान विश्राम के और अधकार के व्यवधानो से विच्छिन्न उषाओं का नहीं। क्रमागत प्रकाशों के उस सातत्य से सभूत दीप्यमान शक्ति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति तीव्रतासहित आरोहण करती हुई पूर्णतम प्रकाश को पा लेती है। पर हमेशा वह बल, जिसने इस रूपांतर को सभव बनाया है और इसका अधिष्ठाता है, इन्द्र का पराक्रम है। यह (इन्द्र) वह परम प्रज्ञा है जो उषाओ के द्वारा, मरुतो के द्वारा, अपने आपको मनुष्य के अदर उडेल रही है। इन्द्र है प्रकाशमयी गौओ का वृषभ, विचार-शक्तियों का स्वामी, प्रकाशमान उषाओं का अधिपति।

अब भी चाहिये कि इन्द्र मरुतो को प्रकाशप्राप्ति के लिये अपने उप-करण के तौर पर प्रयुक्त करे। उनके द्वारा वह द्रष्टा के अतिमानस ज्ञान को प्रतिष्ठित करे। उनकी (मरुतों की) शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अदर उसकी (इन्द्र की) शक्ति प्रतिष्ठित होगी और वह (इन्द्र) उस मानवस्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर सकेगा, ताकि वह (मानवस्वभाव) आघातो से लडखडा न जाय या प्रबल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीडा को जो कि हमारी सामान्य क्षमता के मुकाबले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय (देखो, मत्र ५)।

मरुत इस प्रकार शक्ति में प्रबलीभूत होकर सदा उच्चतर शक्ति के पथप्रदर्शन और रक्षण की अपेक्षा करेंगे। वे हैं पृथक् पृथक् विचार-शक्तियों के पुरुष, इन्द्र है इकट्ठा सब विचार-शक्तियो का एक पुरुष। उस (इन्द्र) में वे (मरुत) अपनी परिपूर्णता तथा अपनी समस्वरता को पाते हैं। तो अब इस समुदायी (इन्द्र) तथा इन अगों (मरुतो) के बीच कलह और विरोध नहीं रहना चाहिये। मरुत इन्द्र को स्वीकार करके, उससे उन वस्तुओ के उचित बोध को पा लेगे जिनका जानना अभीष्ट

होगा। वे आंशिक प्रकाश की चमक द्वारा भ्रांति में नहीं पड़ेंगे या सीमित शक्ति से ग्रस्त होकर लक्ष्य से बहुत दूर नहीं जा पड़ेंगे। वे इस योग्य हो जायगे कि वे इन्द्र की क्रिया को धारण किये रख सके, जब कि वह (इन्द्र) उन सबके विरोध में अपनी शक्ति लगाता है जो कि अब भी आत्मा और आत्मा की संपूर्णता के बीच में बाधक होकर खडे हो सकते हैं।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियों की, तथा इनकी अभीप्साओं की, सम-स्वरता में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के सहस्रो विरोधो को तोड फोड डालने में पर्याप्त सबल होगी और वह मानवीयता, संघटित व्यक्तित्ववाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य की झांकी तो निरंतर मिला करती है पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने संबंध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है (देखो, मंत्र ६)।

करने आया करती है जिसे इस काली भौंओवाली माता (रात्रि) ने तैयार कर रखा होता है। तो भी यहां ऋषि सतत उषाओ का वर्णन करता प्रतीत होता है, इन प्रतीयमान विश्राम के और अधकार के व्यवधानो से विच्छिन्न उषाओ का नहीं। क्रमागत प्रकाशो के उस सातत्य से सभूत दीप्यमान शक्ति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति तीव्रतासहित आरोहण करती हुई पूर्णतम प्रकाश को पा लेती है। पर हमेशा वह बल, जिसने इस रूपातर को सभव बनाया है और इसका अधिष्ठाता है, इन्द्र का पराक्रम है। यह (इन्द्र) वह परम प्रज्ञा है जो उषाओ के द्वारा, मरुतो के द्वारा, अपने आपको मनुष्य के अदर उडेल रही है। इन्द्र है प्रकाशमयी गौओं का वृषभ, विचार-शक्तियो का स्वामी, प्रकाशमान उषाओं का अधिपति।

अब भी चाहिये कि इन्द्र मरुतों को प्रकाशप्राप्ति के लिये अपने उपकरण के तौर पर प्रयुक्त करे। उनके द्वारा वह द्रष्टा के अतिमानस ज्ञान को प्रतिष्ठित करे। उनकी (मरुतो की) शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अदर उसकी (इन्द्र की) शक्ति प्रतिष्ठित होगी और वह (इन्द्र) उस मानवस्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर सकेगा, ताकि वह (मानवस्वभाव) आघातों से लडखडा न जाय या प्रबल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीडा को जो कि हमारी सामान्य क्षमता के मुकाबले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय (देखो, मत्र ५)।

मरुत इस प्रकार शक्ति में प्रबलीभूत होकर सदा उच्चतर शक्ति के पथप्रदर्शन और रक्षण की अपेक्षा करेंगे। वे है पृथक् पृथक् विचार-शक्तियों के पुरुष, इन्द्र है इकट्ठा सब विचार-शक्तियों का एक पुरुष। उस (इन्द्र) में वे (मरुत) अपनी परिपूर्णता तथा अपनी समस्वरता को पाते हैं। तो अब इस समुदायी (इन्द्र) तथा इन अगो (मरुतो) के बीच कलह और विरोध नहीं रहना चाहिये। मरुत इन्द्र को स्वीकार करके, उससे उन वस्तुओ के उचित बोध को पा लेंगे जिनका जानना अभीष्ट

होगा। वे आंशिक प्रकाश की चमक द्वारा भ्राति में नहीं पडेंगे या सीमित शक्ति से ग्रस्त होकर लक्ष्य से बहुत दूर नहीं जा पडेंगे। वे इस योग्य हो जायंगे कि वे इन्द्र की क्रिया को धारण किये रख सके, जब फि वह (इन्द्र) उन सबके विरोध में अपनी शक्ति लगाता है जो कि अब भी आत्मा और आत्मा की सपूर्णता के बीच में बाधक होकर खडे हो सकते हैं।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियो की, तथा इनकी अभीप्साओ की, सम-स्वरता में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के सहस्रो विरोधो को तोड फोड़ डालने में पर्याप्त, सबल होगी और वह मानवीयता, सघटित व्यक्तित्ववाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य की झाकी तो निरतर मिला करती है पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने सबध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है (देखो, मत्र ६)।

चौथा अध्याय

अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ७७

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गी ।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ॥१॥

(कथा अग्नये दाशेम) कैसे अग्नि को हम हवि दें? (का देवजुष्टा गी॰) कौनसा देव-स्वीकृत शब्द (भामिने अस्मै) देदीप्यमान ज्वाला के अधिपति इस [अग्नि] के लिये (उच्यते) बोला जाता है? (मर्त्येषु अमृत॰) मर्त्यों में अमर (ऋतावा) सत्य से युक्त (यजिष्ठ॰ होता) यज्ञ का साधकतम होता (य॰) जो अग्नि (देवान् कृणोति इत्) देवों को विरचित कर देता है ॥१॥

यो अध्वरेषु शतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम् ।
अग्निर्यद् वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति ॥२॥

(य॰) जो अग्नि (अध्वरेषु होता) यज्ञों में होता है (शतम) शांति से परिपूर्ण है (ऋतावा) सत्य से परिपूर्ण है (तम् उ) उसको तुम अवश्य (नमोभि) अपने समर्पणों द्वारा (आकृणुध्वम्) अपने अंदर रचो, (यद् अग्नि) जब अग्नि (मर्ताय) मर्त्य के लिये (देवान् वे) देवों को अभिव्यक्त* करता है, तब (स बोधाति च) वह उनका बोध भी रखता है, और (मनसा यजाति) मन द्वारा उनका यजन करता है, उन्हें हवि प्रदान करता है ॥२॥

स हि क्रतु स मर्य स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथी ।
त मेधेषु प्रथम देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारी ॥३॥

(हि) क्योंकि (स क्रतु) वह सकल्प है (स मर्य॰) वह बलरूप है (स साधु॰) वह पूर्णता को सिद्ध करनेवाला है, वह (मित्र न) मित्र की

*या "वेवान् वे=देवों के अंदर प्रविष्ट होता है।"

तरह (अद्भुतस्य रथी• भूत्) परम सत्ता का रथी हो जाता है। (तं प्रथम) उस सर्वप्रथम के प्रति (मेधेषु) समृद्धियुक्त यज्ञों में (देवयन्ती• विश) देवत्व को चाहनेवाली प्रजाएं (उपब्रुवते) शब्द को उच्चारित करती है,–(दस्मम्) उस परिपूर्ण करनेवाले के प्रति, (आरी•) वे प्रजाए जो कि आर्य है॥३॥

स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्।
तना च ये मघवान शविष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म॥४॥

(नृणा नृतम) शक्तियो में सबलतम और (रिशादा) विनाशको को हडप जानेवाला (स अग्नि•) वह अग्नि (अवसा) अपनी उपस्थिति के द्वारा (गिर•) शब्दों को, और (धीतिम्) उनके विचार को (वेतु) अभिव्यक्त कर दे,† (ये च) और वे जो (तना) अपने विस्तार से (मघवान•) ऐश्वर्य के अधिपति, तथा (शविष्ठा) सबसे अधिक बलशाली है (वाजप्रसूता [स्यु•]) अपने ऐश्वर्य को बिखेरनेवाले हो जाय, और (मन्म इषयन्त) विचार को अपनी अन्तःप्रेरणा देवें॥४॥

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदा।
स एषु द्युम्नं पीपयत् स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान्॥५॥

(एवा) इस प्रकार (ऋतावा अग्नि•) सत्य से युक्त अग्नि (गोतमेभिः) गोतमों–प्रकाश के स्वामियों‡–द्वारा (अस्तोष्ट) स्तुत किया गया है, (जातवेदा) वह लोकों को जाननेवाला अग्नि (विप्रेभि) विप्रों–निर्मलमनों–द्वारा [स्तुत किया गया है]। (स एषु) वह इन [गोतमों

†या "गिर• धीति वेतु=शब्दों में तथा विचार में प्रविष्ट हो जाय।"

‡बाहरी अर्थ ले तो 'गोतमेभि' का अर्थ होगा इस सूक्त का द्रष्टा जो गोतम राहूगण ऋषि है उसके परिवार के व्यक्तियों द्वारा। परंतु हम निरंतर देखते हैं कि मंत्रों में जहा ऋषियों के नाम प्रयुक्त किये गये है वहां साथ ही उनके अर्थ को बतानेवाले गूढ संकेत भी रख दिये गये हैं। इस संदर्भ में 'गोतमेभि ऋंतावा, विप्रेभिर्जातवेदा.' इस प्रकार शब्दो को

या विप्रों] के अदर (द्युम्न पीपयत्) प्रकाश की शक्ति को पोषित करेगा, (स वाजम्) वह समृद्धि को [पोषित करेगा], (चिकित्वान् स) बोध-युक्त वह [अपने बोधों द्वारा] (पुष्टिं) पुष्टि को, और (जोषम्) सम-स्वरता को (आयाति) प्राप्त करेगा ॥५॥

भाष्य

गोतम राहूगण इस सूक्त का ऋषि है, सूक्त अग्नि की स्तुति में गाया गया है, अग्नि है दिव्य सकल्प जो कि विश्व में कार्य कर रहा है।

'अग्नि' वैदिक देवों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, सबसे अधिक व्यापक है। भौतिक जगत् में वह सामान्य भक्षक और उपभोक्ता है। साथ ही वह पवित्रकर्ता भी है, जब वह भक्षण करता है और उपभोग करता है तब भी वह पवित्रकर्ता है। यह वह आग है जो तैयार करती है और पूर्णता लाती है, साथ ही यह वह अग्नि है जो सात्म्य करती है और वह शक्ति की उष्णता है जो रूप बनाती है। यह जीवन की उष्णता है और वस्तुओं में रस को, अर्थात् उनकी तात्त्विक सत्ता के सार को और उनके आनद के सार को उत्पन्न करती है।

इसी तरह वह प्राण का भी सकल्प है, क्रियाशील जीवन-शक्ति है, और उस शक्ति के रूप में भी वह उन्हीं व्यापारों को करती है। भक्षण और उपभोग करती हुई, पवित्रीकरण करती हुई, तैयार करती हुई, सात्म्य करती हुई, रूप बनाती हुई वह सदा ऊपर की तरफ उठती है और अपनी शक्तियो को 'मरुतों', मन-शक्तियों, के रूप में परिणत कर देती है। हमारे मनोविकार और धुधले भावावेग इस अग्नि के ज्वलन

जोडकर रखने से 'गोतम' कौन है इसकी एक असदिग्ध व्याख्या निकल आती है, अर्थात् गोतम विप्र ही है और कोई नहीं। जैसे कि इसी सूक्त की तीसरी ऋचा में 'त प्रथम देवयन्ती, वस्मम् आरी' इस प्रकार की शब्दयोजना से यह स्वयमेव व्याख्यात हो जाता है कि आर्य प्रजाए वे हैं जो कि 'देवयन्ती' हैं।

का धुआ है। केवलमात्र इसी का अवलब पाकर हमारी सब वात-शक्तियां अपनी क्रिया करने में निश्चितता पाती हैं।

यदि वह (अग्नि) हमारी प्राणमय सत्ता में स्थित संकल्प है और क्रिया के द्वारा इसे (प्राण को) पवित्र करता है, तो वह साथ ही मन में स्थित सकल्प भी है और अभीप्सा के द्वारा मन को निर्मल करता है। जब वह वुद्धि के अदर प्रविष्ट होता है तब वह अपने दिव्य जन्मस्थान और घर के समीप आ रहा होता है। वह विचारों को फलसाधक शक्ति की तरफ ले जाता है, वह क्रिया करती हुई शक्तियों को प्रकाश की तरफ ले जाता है।

उसका दिव्य जन्मस्थान और घर,—यद्यपि वह सर्वत्र ही जन्मा हुआ है और सभी वस्तुओं में निवास करता है,—सत्य है, असीमता है, वह वृहत् विराट् प्रज्ञा है जहा ज्ञान और शक्ति आकर एक हो जाते हैं। क्योंकि वहा समस्त सकल्प वस्तुओ के सत्य के साथ समस्वर होकर रहता है और इसलिये फलसाधक होता है, समस्त विचार उस प्रज्ञा का अंश-भूत होकर रहता है जो कि दिव्य नियम है, और इसलिये दिव्य क्रिया को पूर्णरूपेण नियमित करनेवाला होता है। 'अग्नि' चरितार्थता को प्राप्त करके अपने स्वकीय घर में—सत्य में, ऋत में, वृहत् में—शक्तिमान् हो जाता है। वहीं पहुचाने के लिये वह (अग्नि) मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्य की आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को ऊपर की तरफ ले जा रहा है।

जब कि महान् अतिक्रमण किये जाने की, मन से अतिमानस में सक्रान्ति की, वुद्धि के—जो कि अब तक मनोमय सत्ता की नेत्री वनी हुई थी—एक दिव्य प्रकाश में रूपातरित हो जाने की, प्रथम सभावना होने लगी उस क्षण में,—जब कि वैदिक योग के वीच में आनेवाला ऐसा यह अति गभीर और कठिन समय आया उस समय, ऋषि गोतम राहूगण, अपने अंदर अन्त प्रेरित शब्द को लाना चाह रहा है। वह शब्द उसे तथा अन्यों को उस शक्ति के अनुभव करने में सहायता देगा जो शक्ति अवश्य-

मेव उस सक्रान्ति को कर देगी और प्रकाशमान समृद्धि को उस अवस्था को ला देगी जिससे कि वह रूपातर-कार्य प्रारभ हो सकेगा।'

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है, उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रिया का जो स्वत-सचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिज्ञ हो गयी है। विश्व की सारी प्रक्रिया अपने स्वरूप से ही एक यज्ञ है, वह स्वेच्छापूर्वक किया जाय या अनिच्छापूर्वक। आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करने से वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है। जो आत्मोत्सर्ग करने से इन्कार करता है, तो भी वह विश्व की शक्तियों का ग्रास तो बनता ही है। "खानेवाला भोक्ता स्वय भी खाया जाता है"* यह एक अर्थपूर्ण और भीषण उक्ति है, जिसमें उपनिषद् ने विश्व के इस रूप को सगृहीत कर दिया है, और एक दूसरे सदर्भ में मनुष्यों को देवो के पशु† कहा गया है। जब इस नियम को पहचान लिया जाता है और स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है तभी—केवल तभी—इस मृत्यु के राज्य को पार किया जा सकता है तथा यज्ञ (त्याग) के कर्मों द्वारा अमरता सभव बनायी तथा प्राप्त की जा सकती है। इसके लिये मानवीय जीवन की सभी शक्तियां तथा सभाव्यताए, यज्ञ के प्रतीक रूप में, विश्व के दिव्य जीवन के प्रति उत्सर्ग कर दी जाती हैं।

ज्ञान, बल और आनद ये दिव्य जीवन की तीन शक्तिया हैं, विचार और विचार-जनित रचनाए, सकल्प और सकल्प-जनित कार्य, प्रेम और प्रेम-जनित समस्वरताए ये उनके अनुरूप तीन मानवीय क्रियाए है जिन्हें ऊपर

---

*अहमन्नम्, अन्नमदन्तमद्मि। तै. ३ १०.६

†"प्राण देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्या पशवश्च ये।" तै २ ३—अर्थात् देव प्राण के आधार से ही जीते हैं और वे मनुष्य भी प्राण से ही जीवित हैं जो कि देवो के पशु हैं।

उठाकर दिव्य स्तर तक पहुचाया जाना है। सच और झूठ, प्रकाश और अधकार, वैचारिक उचितता और अनुचितता के द्वंद्व हैं ज्ञान की गडबड़ें जो कि अहंकार-रचित विभाग से पैदा होती हैं, अहकार-जनित प्रेम और घृणा, सुख और दु ख, हर्ष और पीड़ा के द्वद्व प्रेम की गडबड़ें है, आनद के विकार हैं, सबलता और निर्बलता, पाप और पुण्य, कर्मण्यता और अकर्मण्यता के द्वद्व सकल्प की गडबड़ें है जो कि दिव्य बल को बिखेरनेवाली है। और ये सब गडबडें इसलिये उठती है, और यहां तक कि हमारी क्रिया की आवश्यक अग बन जाती है, क्योंकि दिव्य जीवन की ये त्रिविध शक्तिया (ज्ञान, बल, प्रेम), अज्ञान के कारण जो कि विभक्त करनेवाला है, एक दूसरे से अलग हो जाती है—ज्ञान तो बल से, प्रेम दूसरे दोनों (बल और ज्ञान) से। यह अज्ञान है, प्रबल विश्वव्यापक मिथ्यात्व है, जिसे हटाया जाना है। तो सत्य के द्वारा ही वास्तविक समस्वरता का, अखण्ड सौख्य का, दिव्य आनद के अदर प्रेम की अतिम कृतार्यता या परिपूर्णता का मार्ग खुल सकता है। इसलिये जब मनुष्य के अदर का सकल्प दिव्य तथा सत्य से अभिव्याप्त, अमृत ऋतावा, हो जाता है केवल तभी वह पूर्णता, जिसकी तरफ हम अग्रसर हो रहे है, मानव-जाति के अदर सिद्ध की जा सकती है।

तो 'अग्नि' वह देव है जिसे मर्त्य के अदर सचेतन होना है। उसे ही अन्तःप्रेरित शब्द ने अभिव्यक्त करना है, इस द्वारवाले प्रासाद (मदिर) में और इस यज्ञ की वेदी पर सुप्रतिष्ठित करना है।

"किस प्रकार अग्नि को हम हवि दें?" ऋषि पूछता है। देने के लिये यहा जो शब्द 'दाशेम' प्रयुक्त हुआ है उसका शाब्दिक अर्थ है 'बाटें', इसका एक गूढ़ सबंध विवेक अर्थ में आनेवाली 'दश' धातु से भी है। वस्तुत यज्ञ एक उपकल्पन या विभाजन है, मानवीय क्रियाओ और सुखोपभोगों को उन विभिन्न विराट् शक्तियों के लिये बांटना है, जिनके कि क्षेत्र में वे (मानवीय क्रियाएं और सुखोपभोग) उनके अधिकार से ही आते है। इसी लिये वेदमन्त्रो में बार बार देवो के भाग का उल्लेख

आता है। यज्ञकर्ता के सामने समस्या यह होती है कि वह अपने कर्मों की उचित व्यवस्था कैसे करे, उनका उचित विभाग कैसे करे, क्योंकि यज्ञ हमेशा नियम तथा दिव्य विधान (ऋतु; बाद के साहित्य में जिसे 'विधि' नाम दिया गया है) के अनुसार ही होना चाहिये। उचित व्यवस्था करने का सकल्प होना ही, मर्त्य के अदर उच्च नियम तथा सत्य का शासन हो जाय इसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण तैयारी है।

इस समस्या का हल निर्भर करता है उचित उपलब्धि पर और उचित उपलब्धि प्रवृत्त होती है सच्चे आलोक देनेवाले शब्द से, उस अन्त-प्रेरित विचार की अभिव्यक्ति से जो (विचार) द्रष्टा के पास 'बृहत्' से आता है। इसलिये आगे ऋषि पूछता है, "कौनसा शब्द अग्नि के प्रति उच्चारित किया जाता है ?" कौनसा स्तुत्यात्मक शब्द, कौनसा उपलब्धिकारक शब्द ? दो शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं। पहली यह कि वह शब्द अन्य दिव्य शक्तियो से स्वीकृत होना चाहिये, अर्थात्, यह इस स्वरूप का होना चाहिये कि उस अनुभूति की सभाव्यता को खोल देता हो या उस अनुभूति के प्रकाश को अपने अदर रखता हो जिसके द्वारा दिव्य कार्यकर्ता (अर्थात् देव) अपने अपने व्यापारों को मानवीयता की बहिस्थ चेतना के अदर अभिव्यक्त करने के लिये तथा वहा अपने उन व्यापारो में खुले तौर पर लगे रहने के लिये प्रेरित किये जा सके। और दूसरी यह कि वह (शब्द) 'अग्नि' के, देदीप्यमान ज्वाला के इस देवता के, द्विविध स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला होना चाहिये। 'भाम' के दोनों अर्थ हैं, ज्ञान का प्रकाश और कर्म की ज्वाला। 'अग्नि' एक ज्योति भी है और एक शक्ति भी।

शब्द आता है। यो मर्त्येषु अमृत ऋतावा। 'अग्नि' विशेष रूप से मर्त्यों में अमर है। वह अग्नि ही है जिसके द्वारा असीमता के अन्य प्रकाशमान पुत्र परमदेव के आविर्भाव और आत्म-विस्तार (देववीति, देवताति) को—जो कि विराट् तथा मानवीय यज्ञ का उद्देश्य भी है और उसकी पद्धति भी है—सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि 'अग्नि' है

वह दिव्य सकल्प जो सदा सब वस्तुओं में उपस्थित है, सदा विनाश कर रहा और रच रहा है, सदा निर्माण कर रहा और पूर्ण कर रहा है, विश्व की जटिल प्रगति को सदा सहारा दे रहा है। यही है जो सब मृत्यु और परिवर्तन के बीच स्थिर बना रहता है। यह शाश्वतिक तौर पर और अविच्छेद्य रूप में सत्य-युक्त है। प्रकृति के अतिम धुधलेपन में, भौतिकता की निम्नतम प्रज्ञाशून्यता में, यह सकल्प ही है जो छिपा हुआ ज्ञान है तथा जो इन सब अंधकारपूर्ण गतियो को, यंत्रचालित की तरह, दिव्य नियम के अनुसार चलने के लिये तथा उनकी प्रकृति का जो सत्य है उसका अनुवर्तन करने के लिये बाध्य करता है। यही है जो बीज के अनुसार वृक्ष को उगाता है और प्रत्येक कर्म को उचित फल से युक्त करता है। मनुष्य के अज्ञान के अन्धकार में,—जो भौतिक प्रकृति के अधकार की अपेक्षा कम है तो भी उससे अधिक बडा है,—यही दिव्य सकल्प है जो शासन करता है और पथप्रदर्शन करता है, उसकी अधता के अभिप्राय को तथा उसकी पथभ्रष्टता के उद्देश्य को जानता है और उसके अदर विराट् मिथ्यात्व की जो कुटिल क्रियाए हो रही है उनमेंसे विराट् सत्य की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति को विकसित करता जाता है। भास्वर देवो में अकेला वह ही है जो बडी चमक के साथ प्रज्वलित होता है और जो रात्रि के अधकार में भी वैसे ही पूर्ण आलोक (दर्शनशक्ति) से युक्त रहता है, जैसे कि दिन की जगमगाहटो में। अन्य देव हैं 'उष-र्बुध', उषा के साथ जागनेवाले।

इसलिये वह होता (हवि देनेवाला ऋत्विज) है, यज्ञ के लिये सबल-तम या सबसे अधिक योग्य है, वह जो कि, सर्वशक्तिमान् होता हुआ, सर्वदा सत्य के नियम का अनुसरण करता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'हव्य' हमेशा 'कर्म' के अर्थ को देता है तथा मन या शरीर का प्रत्येक कर्म यह समझा गया है कि वह विराट् सत्ता और विराट् इच्छा के अदर अपने प्रचुर ऐश्वर्य में से उत्सर्ग करना है। अग्नि, दिव्य सकल्प, वह है जो हमारे कर्मों में हमारे मानवीय संकल्प के पीछे खड़ा रहता है।

जब हम सचेतन होकर हवि देते हैं तब वह सामने आ जाता है, यह वह ऋत्विज है जो सम्मुख निहित किया हुआ (पुरो-हित) है, हवि को पथप्रदर्शित करता है और इसकी फलोत्पादकता का निर्णायक होता है।

इस स्वत.परिचालित सत्य द्वारा, इस ज्ञान द्वारा जो कि विश्व में एक निर्भ्रात सकल्प के रूप में कार्य कर रहा है, वह मर्त्यों के अदर देवो को रच देता है। अग्नि मृत्यु से परिवेष्टित शरीर के अदर देवत्व की सभाव्यताओं को आविर्भूत कर देता है, 'अग्नि' उन (सभाव्यताओं) को समर्थ वास्तविक रूप तथा परिपूर्ति (सिद्धि) प्राप्त करा देता है। वह हमारे अदर अमर देवों के जाज्वल्यमान रूपो को रच देता है। (मत्र १)

इस कार्य को वह इस रूप में करता है कि वह एक विराट् शक्ति है जो विद्रोह करनेवाली मानवीय सामग्री पर क्रिया करती है, तब भी जब कि हम अपने अज्ञान में ग्रस्त होकर ऊर्ध्वमुखी अन्त प्रेरणा का प्रतिरोध करने जाते हैं और, अपने कर्मों को अहकारपूर्ण जीवन के प्रति समर्पित करने के अभ्यस्त होने के कारण, अब तक भी दिव्य समर्पण को करने के लिये तैयार नहीं होते या अभी तक कर नहीं सकते। पर अग्नि स्वयं हमारे अदर विरचित हो जाय यह उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम अपने अहंभाव को दमन करना सीखते है और यह सीखते हैं कि प्रत्येक कार्य में इस अहभाव को विराट् सत्ता के आगे झुकने के लिये बाध्य करें और कार्य की छोटी से छोटी क्रियाओं में सचेतन होकर इसे दिव्य सकल्प के सिद्ध करने में लगावे। इस प्रकार दिव्य सकल्प मानवीय मन के अदर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है और इसे दिव्य ज्ञान से आलोकित कर देता है। इसी प्रकार वह अवस्था प्राप्त की जाती है जिसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने अपने परिश्रम द्वारा महान् देवों को रचा।

सस्कृत का शब्द जो यहा प्रयुक्त हुआ है वह है 'आ कृणुध्वम्'। 'कृणुध्वम्' मे पहले जो 'आ' उपसर्ग भी लगा है वह इस विचार को देता है कि बाहर की किसी वस्तु को अपने पर खींच लाना है और अपनी स्वकीय चेतना के अदर लाकर उसे घड़ना है या विरचित करना है।

'आ-कृ' अपने व्यतिक्रमित 'आ-भू' प्रयोग के अनुरूप है; 'आ-भू' प्रयुक्त होता है उस अवस्था को बताने के लिये जब कि देव अमरता के संस्पर्श के साथ मर्त्य के पास आते हैं और, देवता के दिव्य रूप के मानवता के रूप पर पड़ने से, वे उस (मर्त्य) के अंदर "होते हैं" "बनते हैं", आकृति पाते हैं। विराट् शक्तियां विश्व में क्रिया करती हैं और विद्यमान रहती हैं; मनुष्य उनको अपने पर लेता है, अपनी स्वकीय चेतना में उनकी एक प्रतिमा बनाता है और उस प्रतिमा को उस जीवन तथा शक्ति से समन्वित करता है, जो जीवन और शक्ति सर्वोच्च सत्ता ने अपने निज के दिव्य रूपों के अंदर तथा विश्वशक्तियों के अंदर फूंके हैं*।

जब इस प्रकार जैसे घर में 'घर का मालिक'† रहता है उस रूप में 'अग्नि' मर्त्य के अंदर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है तब वह अपनी दिव्यता के वास्तविक स्वरूप में प्रकट होता है। जब हम अंधकाराच्छन्न होते हैं और सत्य व नियम से अभिद्रोह कर रहे होते हैं तब हमारी प्रगति एक अज्ञान से दूसरे अज्ञान में ठोकरें खाती हुई प्रतीत होती है और दुःख तथा विघ्न से भरपूर होती है। सत्य के प्रति सतत समर्पणों द्वारा, नमोभि, हम अपने अंदर दिव्य संकल्प की उस प्रतिमा को रचते हैं जो इसके विपरीत शांति से परिपूर्ण है, क्योंकि यह निश्चित रूप में सत्य व नियम से युक्त है। आत्मा की समरूपता‡ जो कि विश्वव्यापी प्रज्ञा के प्रति समर्पण द्वारा रचित हुई है, हमें एक निरतिशय शांति और निर्वृति प्रदान करती है। और क्योंकि वह प्रज्ञा सत्य के सरल मार्ग में रखे गये हमारे सब कदमों की पथप्रदर्शक होती है, इसलिये इसकी सहायता से हम सब स्खलनों (दुरितानि) से पार हो जाते हैं।

---

*हिन्दू प्रतिमापूजा का यही वास्तविक आशय और यही वास्तविक कल्पना है, जिसमें इस प्रकार महान् वैदिक प्रतीकों को भौतिक रूप दे दिया गया है।

†गृहपति, और 'विश्पति' भी, अर्थात् प्राणियों में स्वामी या राजा।

‡गीताप्रोक्त 'समता'।

इसके अतिरिक्त, जब अग्नि हमारी मानव-सत्ता के अदर सचेतन हो जाता है तो उसके साथ यह भी होता है कि हमारे अदर जो देवो की रचना हो रही है वह एक वास्तविक प्रकट वस्तु बन जाती है, परदे के पीछे हो रही वस्तु नहीं रहती। हमारे अदर का सकल्प वृद्धिगत होते हुए देवत्व के प्रति सचेतन हो जाता है, इनकी रचना की पद्धति के प्रति जागृत हो जाता है, इस रचना की दिशाओं को अनुभव करने लगता है। मानवीय कर्म बुद्धिपूर्वक सचालित होता हुआ और विश्वशक्तियो के प्रति अर्पित हुआ हुआ तब कोई यत्रवत् परिचालित, अनिच्छापूर्वक दी गयी या अपूर्ण हवि नहीं रहता है, विचारशील और निरीक्षणशील (द्रष्टा) मन भी तब भाग लेने लगता है और उस यज्ञिय सकल्प का उपकरण बन जाता है। (मत्र २)

अग्नि सचेतन सत्ता की शक्ति है, जिस शक्ति को हम 'सकल्प' नाम से पुकारते है, वह सकल्प जो मन तथा शरीर के व्यापारो के पीछे क्रिया करता है। अग्नि हमारे अदर रहनेवाला वह सबल (मर्य, मजबूत, पुरुष) देव है जो अपने बल को सब आक्रामक शक्तियो के विरोध में लगाता है, जो जडता को रोकता है, जो हृदय की और शक्ति की प्रत्येक असमर्थता को दूर करता है, जो पुरुषत्व की सब न्यूनताओं को निकाल बाहर करता है। अग्नि उसे वास्तविक रूप दे देता है, सिद्ध कर देता है जो उसके बिना एक असिद्ध अभीप्सा या निष्फल विचार बना रहता। वह योग का कर्ता (साधु) है, अपनी भट्ठी पर काम करता हुआ वह दिव्य शिल्पी हथौड़े की चोटें लगा लगाकर हमारी पूर्णता को रच देता है। यहा उसे कहा गया है कि वह परम सत्ता का रथी बनता है। वह परम और अद्भुत जो गति करता है और अपने आपको "अन्य की चेतना के अदर"* सिद्ध करता है (यहा वही शब्द 'अद्भुत' प्रयुक्त हुआ है, जो कि

---

*देखो, ऋग्वेद १ १७० जिसकी व्याख्या इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में आ चुकी है।

इन्द्र और अगस्त्य के संवाद में आ चुका है), क्रिया की लगामों को पकडनेवाले रथीरूपी इस शक्ति (अग्नि) से ही अपनी उस गति को सचालित करता है। मित्र भी, जो कि प्रेम तथा प्रकाश का देवता है, ऐसा ही एक रथी है। क्योंकि प्रेम, जब प्रकाशमय हो जाता है तो वह समस्वरता को पूर्ण (सिद्ध) कर देता है जो कि दिव्य क्रिया का लक्ष्य है। पर साथ में सकल्प तथा प्रकाश के इस देवता (अग्नि) की शक्ति भी अपेक्षित है। शक्ति और प्रेम जब मिल जाते हैं और ये दोनों ज्ञान की ज्योति से आलोकित होते हैं तब जगत् में परम देव को पूर्ण (सिद्ध) कर देते हैं।

सकल्प सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है, मुख्य वास्तविक रूप देनेवाली शक्ति है। इसलिये जब मर्त्यजाति सचेतन होकर महान् लक्ष्य की तरफ मुह मोडती है और, अपनी समृद्धता-प्राप्त शक्तियो को द्यौ के पुत्रो के लिये समर्पित करती हुई, अपने अदर दिव्यता को रचने का यत्न करती है तब प्रथम और मुख्य अग्नि ही है जिसके प्रति वह (मर्त्य-जाति) सिद्धि-दायक विचार को उत्थापित करती है, सर्जनकारी शब्द को निर्मित करती है। क्योंकि वे हैं आर्य जो इस कर्म को करते है तथा इस प्रयत्न को स्वीकार करते हैं—कर्म जो सब कर्मों में बृहत्तम है, प्रयत्न जो सब प्रयत्नों में महत्तम है,—और वह (अग्नि) है वह शक्ति जो दिव्य क्रिया का आलिंगन करती है और उस क्रिया द्वारा कार्य को परिपूर्ण करती है। वह क्या आर्य है जो दिव्य सकल्प से, अग्नि से रहित है, उस अग्नि (सकल्प) से जो श्रम को तथा युद्ध को स्वीकार करता है, कार्य करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है? (मंत्र ३)

इसलिये यह सकल्प ही है जो उन सब शक्तियों को उच्छिन्न कर डालता है जो प्रयत्न को विनष्ट करने में लगी होती है, यही है जो सब दिव्य शक्तियो में सबलतम है, जिसमें परम पुरुष ने अपने आपको प्रति-रूपित किया हुआ है, इसलिये उसे चाहिये कि वह इन मनुष्यरूपी पात्रो में अपनी उपस्थिति प्रदान करे। वहा यह मन को यज्ञ के उपकरण के

तौर पर प्रयुक्त करेगा और अपनी उपस्थिति मात्र से उन अन्त.प्रेरित सिद्धिदायक शब्दो को अभिव्यक्त कर देगा जो कि मानो ऐसे रथ हैं जो देवों के सचार के लिये रचे गये हैं, और उस विचार को जो कि ध्यान-शील है आलोकित कर देनेवाली वह समझ प्रदान करेगा जो कि दिव्य शक्तियो के रूपों को इसके लिये प्रवृत्त कर देगी कि, वे हमारी जागृत चेतना के अदर अपनी बाह्य रेखा को बना लें।

उसके बाद वे अन्य शक्तिशाली देव जो उच्चतर जीवन के ऐश्वर्यों को अपने साथ लाते हैं,–इन्द्र और अश्विनौ, उषा और सूर्य, वरुण और मित्र और अर्यमा,–अपने आपके उस रचनात्मक विस्तार के साथ मनुष्य के अंदर अपने तेजस्वितम बलो को धारण कर ले। वे अपने ऐश्वर्य को, हमारी सत्ता के गुह्य स्थानो से बरसाकर, हमारे अदर रच दें इस प्रकार कि वे (ऐश्वर्य) हमारे दिन की तरह प्रकाशमान प्रदेशो में उपयोग में लाये जा सकें और उनकी प्रेरणाएं दिव्यीकारक विचार को ऊपर दिव्य मन में संचालित करती जाय जब तक कि वह (विचार) अपने आपको उच्च दीप्तियों में रूपातरित न कर दे। (मत्र ४)

इस पांचवे मत्र के साथ सूक्त समाप्त होता है। इस प्रकार, अन्त-प्रेरित शब्दो में, दिव्य सकल्प, अग्नि, गोतमों के पवित्र गानों द्वारा स्तुत किया गया है। ऋषि अपने नाम को और अपने वश के नाम को एक प्रतीक शब्द के तौर पर प्रयुक्त कर रहा है, इसमें "प्रकाशमान" के अर्थ में आनेवाला वैदिक 'गो' शब्द विद्यमान है, और 'गोतम' का अर्थ है "पूर्णत प्रकाशयुक्त"। जो प्रकाशपूर्ण प्रज्ञा के प्रचुर ऐश्वर्य को धारण कर लेते हैं (गोतम बन जाते है) उन्हीं के द्वारा दिव्य सत्य का स्वामी (अग्नि) समग्र रूप से प्राप्त किया जा सकता है तथा इस लोक में, जो कि एक अपेक्षाकृत क्षुद्र रश्मि का लोक है, स्तुत और सुस्थित किया जा सकता है,–गोतमेभिर्ऋतावा। और जिनके मन शुद्ध है, निर्मल और खुले है, जो 'विप्र' है, उन्हीं में महान् जन्मो का, जात लोको का सत्य ज्ञान उदित हो सकता है, जो (जात) लोक इस भौतिक लोक के पीछे छिपे

रहते हैं और जिनमें से यह (भौतिक लोक) अपने बलों को प्राप्त करता और धारण करता है,--विप्रेभिर्जातवेदा ।

अग्नि 'जातवेदस्' है, जात को अर्थात् जन्मों, जात (उत्पन्न) लोको को जाननेवाला है। वह पूर्ण रूप से पाचो लोकों* को जानता है, अपनी चेतना में वह इस सीमित और पराश्रित भौतिक समस्वरता तक ही सीमित नहीं है। वह तीन सबसे उच्चतम अवस्थाओं† में, रहस्यमयी गौ‡ के ऊधस् में, चार सींगों वाले बैल§ के विपुल ऐश्वर्य में भी प्रवेश रखता है। उस विपुल ऐश्वर्य में से वह इन 'आर्य' अन्वेषकों के अदर प्रकाश को पोषण प्रदान करेगा, उनकी दिव्य शक्तियो की प्रचुरता को परिवर्धित करेगा। अपने प्रकाशमय बोधों की उस परिपूर्णता और प्रचुरता के द्वारा वह विचार से विचार को, शब्द से शब्द को, जोडता जायगा, जब तक कि मानवीय प्रज्ञा इतनी समृद्ध और समस्वर न हो जायगी कि वह सहार सके और दिव्य विचार बन जाय। (मत्र ५)

---

*वे लोक जिनमें क्रमशः भौतिक तत्त्व, प्राण-शक्ति, मन, सत्य और आनद सारभूत शक्तिया है। वे क्रम से भू, भुव, स्व, महस् और 'जन या मयस्' कहे जाते है।

†दिव्य सत्ता, चैतन्य, आनद,--सच्चिदानद।

‡अदिति, असीम चेतना, लोको की माता।

§दिव्य पुरुष, सच्चिदानंद; तीन उच्चतम अवस्थाए और चौथा सत्य ये उसके चार सींग है।

पाचवा अध्याय

सूर्य सविता, रचयिता और पोषक

ऋग्वेद, मण्डल ५, सूक्त ८१

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुति ॥१॥

(विप्रा) प्रकाशपूर्ण मनुष्य (मन युञ्जते) अपने मन को योजित करते है (उत धिय युञ्जते) और अपने विचारों को योजित करते हैं, उस [सविता] के प्रति (विप्रस्य) जो प्रकाशपूर्ण है (बृहत) जो विशाल है, और (विपश्चित) जो स्पष्ट विचारवाला है। (वयुनावित्) सब दृश्यों को जाननेवाला, वह (एक इत्) अकेला ही (होत्रा विदधे) यज्ञ की शक्तियो को क्रम में स्थापित कर देता है। (मही) महान् है (सवितु देवस्य) सविता देव की, दिव्य रचयिता की (परिष्टुति) सब वस्तुओं में व्याप्त स्तुति ॥१॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कवि प्रासावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥२॥

(कवि) वह द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (प्रति मुञ्चते) अपने में धारण करता है, और वह उनसे (द्विपदे चतुष्पदे) द्विगुण और चतुर्गुण सत्ता के लिये (भद्रं प्रासावीत्) भद्र को रचता है (सविता) वह रचयिता (वरेण्य) वह परम वरणीय (नाक वि-अख्यत्) द्यौ को पूर्णत अभिव्यक्त कर देता है, और (उषस प्रयाणम् अनु) जब वह उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तब (विराजति) सबको अपने प्रकाश से व्याप्त कर लेता है ॥२॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
य पार्थिवानि विममे स एतशो रजासि देव सविता महित्वना ॥३॥

*(यस्य प्रयाणम् अनु) जिसके प्रयाण के पीछे पीछे (अन्ये देवा इत्) अन्य देव भी (ओजसा) उसकी शक्ति के द्वारा (देवस्य महिमान ययु) दिव्यता की महिमा को पा लेते हैं। (य) जो वह (महित्वना) अपनी महिमा से (पार्थिवानि रजासि) पार्थिव प्रकाश के लोको को (विममे) माप डालता है, (स देव सविता) वह दिव्य रचयिता है, (एतश) बड़ा तेजस्वी है ॥३॥

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभि समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयत परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभि ॥४॥

(उत) और (सवित) हे सविता देव! तू (त्रीणि रोचना) तीन प्रकाशमान लोको में (यासि) पहुचता है, (उत) और तू (सूर्यस्य रश्मिभि) सूर्य की किरणो द्वारा (समुच्यसि) सम्यक्तया व्यक्त किया गया है, (उत) और तू (रात्रीम्) रात्रि को (उभयत) दोनों पार्श्वों से (परीयसे) घेरे हुए है, (उत) और (धर्मभि) अपने कर्मों के नियमों द्वारा, तू (देव) हे देव! (मित्र भवसि) प्रेम का अधिपति होता है ॥४॥

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभि।
उतेद विश्व भुवन वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवित स्तोममानशे ॥५॥

(उत त्वम् एक इत्) और तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) प्रत्येक रचना करने के लिये शक्तिमान् है (उत देव) और हे देव! (यामभि) गतियो द्वारा तू (पूषा भवसि) पोषक बनता है, (उत) और तू (इदं विश्वम् भुवन) सभूतियों के इस सपूर्ण जगत् को (विराजसि) पूर्णतया प्रकाशित करता है। (श्यावाश्व) श्यावाश्व ने (सवित) हे सवित! (ते स्तोमम् आनशे) तेरे स्तोम को प्राप्त कर लिया है ॥५॥*

---

*अनुवाद मुहावरेदार और साहित्यिक हो तथा मूल में जो आशय और एकलयता है वह अनुवाद में ठीक वैसे ही आ जाय इसके लिये सस्कृत के शब्दो को आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तित कर लेने की स्वतत्रता अपेक्षित है। इसलिये मैंने इन सस्कृत के वाक्याशो का अधिक शाब्दिक अनुवाद अपने भाष्य में (यहां मत्रार्थ में न देकर) दिया है।

पाचवा अध्याय

सूर्य सविता, रचयिता और पोषक

ऋग्वेद, मण्डल ५, सूक्त ८१

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुति ॥१॥

(विप्रा) प्रकाशपूर्ण मनुष्य (मन युञ्जते) अपने मन को योजित करते हैं (उत धिय युञ्जते) और अपने विचारों को योजित करते हैं, उस [सविता] के प्रति (विप्रस्य) जो प्रकाशपूर्ण है (बृहत) जो विशाल है, और (विपश्चित) जो स्पष्ट विचारवाला है। (वयुनावित्) सब दृश्यो को जाननेवाला, वह (एक इत्) अकेला ही (होत्रा विदधे) यज्ञ की शक्तियो को क्रम में स्थापित कर देता है। (मही) महान् है (सवितु देवस्य) सविता देव की, दिव्य रचयिता की (परिष्टुति), सब वस्तुओ में व्याप्त स्तुति ॥१॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कवि प्रासावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥२॥

(कवि) वह द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपो को (प्रति मुञ्चते) अपने में धारण करता है, और वह उनसे (द्विपदे चतुष्पदे) द्विगुण और चतुर्गुण सत्ता के लिये (भद्र प्रासावीत्) भद्र को रचता है (सविता) वह रचयिता (वरेण्य) वह परम वरणीय (नाक वि-अख्यत्) द्यौ को पूर्णत अभिव्यक्त कर देता है, और (उषस प्रयाणम् अनु) जब वह उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तब (विराजति) सबको अपने प्रकाश से व्याप्त कर लेता है ॥२॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
य पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देव. सविता महित्वना ॥३॥

मनोवृत्ति के अंदर भी अवतरित होती है तथा इसके ऊर्ध्वप्रदेश में प्रकाशमय प्रज्ञा के लोक को, 'स्व' को, जिसका इन्द्र अधिपति है, निर्मित करती है।

क्योंकि यह 'विज्ञान' एक दिव्य शक्ति है, कोई मानवीय शक्ति नहीं। मनुष्य का मन स्वत.प्रकाश सत्य से निर्मित हुआ हुआ नहीं है, जैसा कि दिव्य मन होता है, यह तो एक इन्द्रियाधिष्ठित मन है जो सत्य को ग्रहण कर तथा समझ† तो सकता है, पर सत्य के साथ एकरूप नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान के प्रकाश ने कुछ इस तरह से अपने को परिवर्तित करके हमारी इस मानवीय बुद्धि (समझ) के अदर आना है जिससे इस (ज्ञानप्रकाश) के रूप हमारी भौतिक चेतना की क्षमताओ और सीमाओ के उपयुक्त हो सके। और इसे यह करना है कि यह हमारी मानवीय बुद्धि को क्रमश आगे ले जाकर उसके वास्तविक स्वरूप तक पहुंचा दे, हमारे अदर मानसिक विकास के लिये उत्तरोत्तर आनेवाली उत्कर्ष की अवस्थाओ को अभिव्यक्त करता जाय। इस प्रकार सूर्य की किरणें, जब कि वे हमारी मानसिक सत्ता को निर्मित करने के लिये यत्न करती हैं, मनोवृत्ति के तीन क्रमिक लोको को रचती है जो कि एक दूसरे के ऊपर स्थित होते हैं,—एक तो सवेदनात्मक, सौंदर्यलक्षी और भावप्रधान मन, दूसरा विशुद्ध बुद्धि, तीसरा दिव्य प्रज्ञा। मन के इन त्रिविध लोकों की परिपूर्णता और सपन्नता सत्ता के केवल विशुद्ध मानसिक लोक‡ में निवास करती है, जहा वे (लोक) तीनो आकाशों, तिस्रो दिव, से ऊपर उनकी तीन रोचनाओं, त्रीणि रोचनानि, के रूप में जगमगाते है। पर उनका प्रकाश भौतिक चेतना पर अवतरित होता है और इसके लोको में, वेदोक्त

---

† समझ या बुद्धि के लिये वैदिक शब्द है 'धी' अर्थात् वह जो कि ग्रहण करती है और यथास्थान धारण करती है।

‡ स्पष्ट ही हमारी सत्ता का स्वाभाविक लोक भौतिक चेतना है, पर अन्य लोक भी हमारे लिये खुले है क्योंकि हमारी सत्ता का अश उनमेंसे प्रत्येक में रहता है।

भाष्य

'इन्द्र' अपने चमकीले गणों (मरुतों) सहित, और आर्य के यज्ञ को परिपूर्ण करनेवाला दिव्य शक्ति 'अग्नि'—ये दोनों वैदिक सप्रदाय के सबसे महत्त्वपूर्ण देव है। अग्नि से आरभ होता है और अग्नि पर ही समाप्ति होती है। यही सकल्पाग्नि, जो ज्ञानरूप भी है, मनुष्य के अमरता को लक्ष्य रखकर किये जानेवाले ऊर्ध्वमुख प्रयत्न का प्रारभ करनेवाला है, इसी दिव्य चेतना को, जो कि दिव्य शक्ति भी है, हम अमर्त्य सत्ता के मूल आधार के तौर पर अत में पहुचते हैं। और इन्द्र, स्वर्लोक का अधिपति, हमारा मुख्य सहायक है, जो वह प्रकाशमान प्रज्ञा है जिसमें कि हमने अपनी धुधली भौतिक मनोवृत्ति को रूपातरित कर देना है ताकि हम दिव्य चेतना को प्राप्त करने के योग्य हो जाय। इन्द्र और मरुत है जिनके द्वारा यह रूपातर सिद्ध होता है। मरुत हमारी पाशविक चेतना को, जो कि प्राण-मन के आवेगो से बनी होती है, पकडते है, इन आवेगो को अपने प्रकाशो से समन्वित करते है और इन्हें सत्ता की पहाडी पर स्व के लोक की तरफ तथा इन्द्र के सत्यो की तरफ हाक ले जाते है। हमारा मानसिक उत्क्रमण इन "पशुओ" से आरभ होता है, ज्यों ज्यो हम आरोहण में प्रगति करते है, वे पशु सूर्य के जगमगाते पशु, 'गाव', किरणें, वेद की दिव्य गौए, बन जाते है। यह है वैदिक प्रतीक-वर्णना का आध्यात्मिक तात्पर्य।

लेकिन, तो फिर यह सूर्य कौन है जिससे कि ये किरणें निकलती है? वह सत्य का अधिपति है, आलोकप्रदाता—'सूर्य'—है, रचयिता—'सविता'—है, पुष्टिदायक—'पूषा'—है। उसकी किरणें अपने स्वरूप में स्वत प्रकाश ज्ञान (Revelation) की, अन्त प्रेरणा (Inspiration) की, अन्तर्ज्ञान (Intuition) की, प्रकाशपूर्ण विवेक (luminous discernment) की अतिमानस क्रियाए है और ये चारो मिलकर उस सर्वातिशायी तत्त्व की क्रिया को बनाती है जिसे वेदात 'विज्ञान' कहता है और जिसे वेद में 'ऋतम्', दिव्य 'सत्य' कहा गया है। परतु ये किरणें मानवीय

मनोवृत्ति के अदर भी अवतरित होती है तथा इसके ऊर्ध्वप्रदेश में प्रकाशमय प्रज्ञा के लोक को, 'स्व' को, जिसका इन्द्र अधिपति है, निर्मित करती है।

क्योंकि यह 'विज्ञान' एक दिव्य शक्ति है, कोई मानवीय शक्ति नहीं। मनुष्य का मन स्वतःप्रकाश सत्य से निर्मित हुआ हुआ नहीं है, जैसा कि दिव्य मन होता है, यह तो एक इन्द्रियाधिष्ठित मन है जो सत्य को ग्रहण कर तथा समझ† तो सकता है, पर सत्य के साथ एकरूप नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान के प्रकाश ने कुछ इस तरह से अपने को परिवर्तित करके हमारी इस मानवीय बुद्धि (समझ) के अदर आना है जिससे इस (ज्ञानप्रकाश) के रूप हमारी भौतिक चेतना की क्षमताओ और सीमाओं के उपयुक्त हो सके। और इसे यह करना है कि यह हमारी मानवीय बुद्धि को क्रमश आगे ले जाकर उसके वास्तविक स्वरूप तक पहुचा दे, हमारे अदर मानसिक विकास के लिये उत्तरोत्तर आनेवाली उत्कर्ष की अवस्थाओ को अभिव्यक्त करता जाय। इस प्रकार सूर्य की किरणें, जब कि वे हमारी मानसिक सत्ता को निर्मित करने के लिये यत्न करती हैं, मनोवृत्ति के तीन क्रमिक लोकों को रचती है जो कि एक दूसरे के ऊपर स्थित होते है,—एक तो सवेदनात्मक, सौंदर्यलक्षी और भावप्रधान मन, दूसरा विशुद्ध बुद्धि, तीसरा दिव्य प्रज्ञा। मन के इन त्रिविध लोकों की परिपूर्णता और सपन्नता सत्ता के केवल विशुद्ध मानसिक लोक‡ में निवास करती है, जहा वे (लोक) तीनो आकाशों, तिस्रो दिव, से ऊपर उनकी तीन रोचनाओं, त्रीणि रोचनानि, के रूप में जगमगाते है। पर उनका प्रकाश भौतिक चेतना पर अवतरित होता है और इसके लोकों में, वेदोक्त

† समझ या बुद्धि के लिये वैदिक शब्द है 'धी' अर्थात् वह जो कि ग्रहण करती है और यथास्थान धारण करती है।

‡ स्पष्ट ही हमारी सत्ता का स्वाभाविक लोक भौतिक चेतना है, पर अन्य लोक भी हमारे लिये खुले है क्योंकि हमारी सत्ता का अंश उनमेंसे प्रत्येक में रहता है।

'पार्थिवानि रजासि', प्रकाश के पार्थिव लोकों में, तदनुरूप रचनाओं को बनाता है। ये पार्थिव लोक भी त्रिगुण है, तिस्र पृथिवी, तीन पृथिवियां। और इन सब लोकों का सविता सूर्य रचयिता है।

इन विविध आध्यात्मिक स्तरो, जिनमेंसे प्रत्येक को एक स्वतत्र लोक माना गया है, के रूपक में हमें वैदिक ऋषियो के विचारो की एक कुजी मिल जाती है। मानव-व्यक्ति सत्ता की एक सगठित इकाई है जो विश्व के रचनाविधान को प्रतिबिबित करती है। यह अपने अदर उसी अवस्था-क्रम को और उसी शक्तियों के खेल को दोहराती है। मनुष्य अधिकरण होकर सब लोको को अपने अदर रखे हुए है, और आधेय होकर वह सब लोकों में रखा हुआ है। सामान्यत ऋषि अमूर्त की अपेक्षा मूर्त रूप में वर्णन को अधिक पसद करते है, और इसलिये भौतिक चेतना को वे भौतिक लोक–भू, पृथिवी–के नाम से वर्णित करते है। विशुद्ध मानसिक चेतना को वे 'द्यौ' नाम से कहते है, जिस द्यौ का 'स्व' अर्थात् प्रकाशमान मन ऊर्ध्वप्रदेश है। मध्यस्थ क्रियाशील, प्राणमय या वातिक चेतना को वे या तो अन्तरिक्ष, अर्थात् अन्तराल में दिखायी देनेवाला, या 'भुव' नाम देते है,–जो 'अन्तरिक्ष' या 'भुव' वे विविध क्रियामय लोक है जो पृथिवी के निर्मापक होते है।

क्योंकि ऋषियो के विचार में लोक मुख्य रूप से तो चेतना की रचना है, वस्तुओ की भौतिक रचना यह केवल गौण रूप से है। लोक 'लोक' है, वह एक प्रकार है जिसमें सचेतन सत्ता अपने आपको निरूपित करती है, कल्पित करती है। और लोक के रूपों का रचयिता है कारणात्मक सत्य, जिसे कि यहा सविता सूर्य नामक देवता द्वारा प्रकट किया गया है। क्योंकि यह असीम सत्ता के अदर रहनेवाला कारणात्मक विचार ही है,– विचार जो कि कोई निर्वस्तुक नहीं किंतु वास्तविक और क्रियामय है,– जो नियम का, शक्तियों का, वस्तुओ की रचनाओ का तथा उनकी सभाव्यताओं के निश्चित रूपो में तथा निश्चित प्रक्रियाओं द्वारा कार्यरूप में परिणत होने का मूल स्रोत होता है। चूकि यह कारणात्मक विचार सत्ता

की एक वास्तविक शक्ति है इसलिये इसे सत्यम्, अस्तित्व में सच्चा, कहा गया है, चूंकि यह सब क्रियाशीलता तथा रचना का निश्चायक सत्य है इसलिये इसे ऋतम्, गति में सच्चा, कहा गया है; चूंकि यह अपनी आत्म-वृष्टि में, अपने क्षेत्र में तथा अपनी क्रिया में विस्तीर्ण और असीम है इस-लिये इसे वृहत्, विशाल या विस्तृत, कहा गया है।

सविता सत्य द्वारा रचयिता है, पर रचयिता इन अर्थो में नहीं जैसे कि कृत्रिम तौर पर कुछ बनाया जाता है या मशीन से कुछ वस्तुए तैयार की जाती हैं। सविता शब्द में जो धातु है उसका अर्थ है अदर से धकेलना, आगे प्रेरित कर देना या बाहर को निकालना,—इसमें रचना के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले सामान्य शब्द 'सृष्टि' का भाव भी है,—और इस प्रकार यह उत्पत्ति के अर्थ को देती है। कारणात्मक विचार की क्रिया कृत्रिम तौर पर निर्माण नहीं करती बल्कि तपम् द्वारा, अपनी स्वकीय सत्ता पर चेतना के दबाव द्वारा, उसे ही अभिव्यक्त कर देती है जो इसके अदर छिपा हुआ है, जो सभाव्य रूप में अप्रत्यक्ष पडा है और जो सत्य रूप में पहले से ही परात्पर के अदर विद्यमान है।

होता यह है कि भौतिक जगत् की शक्तिया और प्रक्रियाए, जैसे कि प्रतीक में, उस अतिभौतिक क्रिया के सत्यो को दोहराती है जिस (अति-भौतिक) क्रिया द्वारा इस (भौतिक जगत्) का जन्म हुआ है। और चूंकि हमारा आन्तरिक जीवन और इसका विकास उन्हीं शक्तियो से और उन्हीं प्रक्रियाओं से शासित होता है जो कि भौतिक और अतिभौतिक लोको में एक सी है, इसलिये ऋषियों ने भौतिक प्रकृति की घटनाओ ही को आन्तर जीवन के व्यापारों के लिये प्रतीक रूप से स्वीकार कर लिया और यह उनका एक कठिन कार्य हो गया कि वे उन आन्तर जीवन के व्यापारो का एक ऐसी पवित्र कविता की मूर्त्त भाषा में वर्णन करें जो कि साथ ही देवों को इस दृश्य जगत् की शक्तियां मानकर की जानेवाली बाह्य पूजा के प्रयोजन को भी सिद्ध करे। सौर बल (भौतिक सूर्य की शक्ति) सूर्य देवता का ही भौतिक रूप है, जो देवता प्रकाश और सत्य

का अधिपति है; यह इस सत्य द्वारा ही होता है कि हम अमरता को प्राप्त कर पाते हैं, वह अमरता जो वैदिक साधना का अंतिम लक्ष्य है। इसलिये सूर्य और सूर्य की किरणों के, उषा और दिन और रात्रि के, तथा प्रकाश व अंधकार इन दो ध्रुवों के बीच में गुजरनेवाले मानव जीवन के रूपक को लेकर आर्य द्रष्टाओं ने मानवीय आत्मा के उत्तरोत्तर वृद्धिशील प्रकाश को निरूपित किया है। सो इसी प्रकार अत्रि के परिवार का श्यावाश्व इस सूक्त में सविता की, रचयिता, पोषक, प्रकट करनेवाले की, स्तुति कर रहा है।

सूर्य सत्य के प्रकाशों से मन को व विचारों को आलोकित करता है। वह विप्र है, प्रकाशमान है। और यह वह है जो अपनेपन के तथा अपनी परिस्थिति के घेरे से घिरी हुई चेतना में से व्यक्तिगत मानवीय मन को छुड़ाता है और उसकी सीमित गति को विशाल कर देता है, जो सीमित गति इस मन पर इसलिये थुप गयी है क्योंकि यह अपने निजी व्यक्तिभाव में ही पहले से निमग्न या ग्रस्त पड़ा है। इसलिये वह बृहत् है, विशाल है। पर उसका प्रकाश धुंधला प्रकाश नहीं है, न ही उसकी विशालता अपनेको तथा विषय को गड़बड़, अस्पष्ट तथा द्रवित दृष्टि से देखने के कारण बनी होती है वह तो अपने अंदर वस्तुओं के--उनके समुदायी रूप में तथा अलग अलग अवयवों और उनके परस्पर संबंधों सहित--स्पष्ट विवेक को रखता है। इसलिये वह विपश्चित् है, विचार में स्पष्टतायुक्त है। मनुष्य ज्यों ही इस सौर ज्योति के कुछ अंश को अपने में ग्रहण करने लगते है तो वे अपनी संपूर्ण मनोवृत्ति को और इसकी विचार-सामग्री को उनके अंदर जो दिव्य सूर्य की सचेतन सत्ता है उसके प्रति संयोजित करने का यत्न करते है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे अपनी सारी धुंधली (तमोग्रस्त) मानसिक अवस्था को और अपने सारे भ्रांत विचारों को अपने अंदर अभिव्यक्त हुए इस प्रकाश के साथ मानो योजित कर देते है, जोड़ते है, ताकि वह प्रकाश मन के धुंधलेपन को निर्मलता में परिणत कर दे तथा विचार के भ्रमों को उन सत्यों में बदल

दे जिन सत्यो के वे (विचार-भ्रम) विकृत रूप में प्रदर्शक हैं। यह जोडना (युञ्जते) उनका योग हो जाता है। 'वे मन को योजित करते है, और वे अपने विचारो को योजित करते है, वे जो कि प्रकाशमान (विप्र) है, उसके (अर्थात् उसके प्रति या इसलिये ताकि वे उसके अग बन सके या उससे सबद्ध हो सके) जो कि प्रकाशमान (विप्र), विशाल (बृहत्), और स्पष्ट विचारोवाला (विपश्चित्) है।"*

तब वह सत्य का अधिपति उसे सौंपी गयी सब मानवीय शक्तियो को सत्य के नियमों के अनुसार व्यवस्थित कर देता है, क्योंकि वह मनुष्य के अंदर एकमात्र और सर्वोपरि शक्ति हो जाता है जो कि सब ज्ञान और कर्म को शासित करता है। विरोधी शक्तियों से विघ्नित न होता हुआ, वह पूर्ण तौर से शासन करता है, क्योंकि वह सब अभिव्यक्तियों को जानता है, उनके कारणो को समझता है, उनके नियम और पद्धति से युक्त होता है, उनको उचित परिणाम के लिये बाध्य करता है। मनुष्य के अदर ये यज्ञिय शक्तिया (होत्रा) सात है, जिनमेंसे प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता के घटक सात तत्त्वो—अर्थात् शरीर, जीवन (प्राण), मन, विज्ञान (Supermind), आनद, सकल्प (चित्) और सारभूत

---

*"युञ्जते मन, उत युञ्जते धिय, विप्रा, विप्रस्य-बृहत -विपश्चित.।" 'विप्रस्य', 'बृहत', 'विपश्चित' इनमें विभक्ति षष्ठी है इसलिये इनका अर्थ होगा कि 'विप्र के', 'बृहत् के', 'विपश्चित् के'। इसलिये शब्दार्थ करते हुए 'के' ऐसा षष्ठीपरक अर्थ ही किया है, पर आगे कोष्ठ में अर्थ स्पष्ट कर दिया है कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के' इसका अर्थ है 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के प्रति'। अथवा, यह वाक्यरचना ऐसी है कि 'विप्रस्य, बृहत, विपश्चित.' के आगे 'भवितुम्' का अध्याहार करने से जो अर्थ निकलता है वही इसका अर्थ होगा कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् का हो सकने के लिये', अर्थात् इसलिये कि उसके अग बन सके या उससे सबद्ध हो सकें। —अनुवादक

सत्ता (सत्)—से क्रमश: सबध रखती हैं। उनकी अनियमित क्रिया या मिथ्या सबध ही, जो कि मन के अदर ज्ञान के तमोग्रस्त हो जाने से पैदा होते हैं और कायम रहते हैं, सब स्खलनो और दु:खो के, सब पापमय क्रियाओं और पापमय अवस्थाओ के कारण हैं। सूर्य, ज्ञान का अधिपति, उनमेंसे प्रत्येक को यज्ञ में उसके उचित स्थान में स्थापित कर देता है। "सब दृश्यजात का ज्ञाता अकेला वह यज्ञिय शक्तियो को क्रम में स्थापित कर देता है", वि होत्रा दधे वयुनावित् एक इत्।

मनुष्य इस प्रकार अपने अदर इस दिव्य रचयिता की विशाल और सर्वव्यापी स्तुति पर—वह ऐसा ही है ऐसे दृढ श्रद्धापूर्वक कथन पर—जा पहुचता है। यह इसी सदर्भ में सकेतित कर दिया गया है और अगली ऋचा में तो और भी अधिक स्पष्टता के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है कि इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की पूर्ण सत्ता के जगत् की एक उचित और सुखमय रचना—क्योकि हमारी सारी ही सत्ता एक सतत रचना ही है—होने लगती है। "महान् है देव सविता की व्यापक स्तुति", मही देवस्य सवितु परिष्टुति। (मत्र १)

सूर्य द्रष्टा है, प्रकट करनेवाला है। उसका सत्य अपने प्रकाश में वस्तुओ के सब रूपो को, सब दृग्गोचर विषयो को और अनुभूतियो को जिनका बना हुआ हमारा यह जगत् है, विराट् चेतना की उन सब आकृति-यो को जो हमारे अदर और हमसे बाहर है, लिये हुए है। यह उनके अदर के सत्य को, उनके अभिप्राय को, उनके प्रयोजन को, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोग को प्रकट करता है। यज्ञ की शक्तियो को समुचित प्रकार से क्रम में स्थापित करता हुआ यह हमारी समग्र सत्ता के नियम के तौर पर भद्र को रचता या पैदा करता है। क्योंकि सभी वस्तुए अपनी सत्ता का कोई समुचित कारण रखती है, अपना उत्तम उपयोग और अपना उचित आनद रखती हैं। जब वस्तुओं के अदर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोग में ले आया जाता है तब सब वस्तुए आत्मा के लिये भद्र को पैदा कर देती है, इसके आनद को बढ़ा देती है, इसके ऐश्वर्य को

विशाल कर देती है। और यह दिव्य क्रान्ति दोनों के अदर होती है, निम्न भौतिक सत्ता के अदर (द्विपदे) तथा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण उस आन्तरिक जीवन के अदर (चतुष्पदे), जो कि अपनी अभिव्यक्ति के लिये इस (भौतिक जीवन) का उपयोग करता है। "वह द्रष्टा सब रूपो को धारण करता है, वह द्विगुण (द्विपद) के लिये और चतुर्गुण (चतुष्पद) के लिये भद्र को प्रकट कर देता (रच देता या अभिव्यक्त कर देता) है", विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कवि, भद्र प्रासावीद् द्विपदे चतुष्पदे।

इस नवीन रचना की पद्धति सूक्त के शेष भाग में वर्णित की गयी है। सूर्य, रचयिता बनकर, परम वरणीय बनकर, हमारी मानवीय चेतना में उस (चेतना) के छिपे हुए दिव्य शिखर को विशुद्ध मन के स्तरों पर अभिव्यक्त कर देता है और हम इस योग्य हो जाते है कि अपनी भौतिक सत्ता की पृथिवी पर से ऊपर की ओर देख सके और हम अज्ञानरूपी रात्रि के अवकारो से छूट जाते है। वह, प्राकृतिक सूर्य की तरह, उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तथा हमारी सत्ता के सब प्रदेशों को, जिनके ऊपर इसका प्रकाश पडता है, यह आलोकित कर देता है; क्योंकि इससे पहले कि स्वय सत्य, अतिमानस तत्त्व, इस निम्न सत्ता पर अधिकार पा ले, हमेशा मानसिक प्रकाश का पहले आना अपेक्षित होता है। "वह रचयिता, वह परम वाछनीय, सारे द्यौ को अभिव्यक्त कर देता है, और उषा की अग्रमुख गति (प्रयाण) के बाद या उसके अनुसार अनुगमन करता हुआ व्यापक रूप में प्रकाशित हो उठता है", वि नाकमख्यत् सविता वरेण्य, अनु प्रयाणमुषसो विराजति। (मन्त्र २)

सब अन्य देव सूर्य के इस प्रयाण में उसके पीछे पीछे आते है और वे उसके प्रकाश की शक्ति द्वारा उसकी[1] बृहत्ता को पा लेते है। अभिप्राय

---

[1]"द्विपदे" और "चतुष्पदे" शब्दों के प्रतीकवाद की इससे भिन्न भी व्याख्या की जा सकती है। यहा इस विषय में विवाद उठावें तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगा।

यह कि जब मनुष्य के अदर सत्य और प्रकाश का विस्तार हो जाता है तब उसके साथ साथ अन्य सब दिव्य शक्तिया या दिव्य सभाव्यताएं भी उसके अदर विस्तारित हो जाती हैं, आदर्श अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) के बल द्वारा ये उचित सत्ता, उचित क्रिया और उचित ज्ञान की उसी असीम विशालता को पा लेती हैं। सत्य जब अपनी विशालता में होता है तब सबको असीम और विराट् जीवन के रूपो में ढाल देता है, सीमित वैयक्तिक सत्ता को हटाकर उसके स्थान पर इन्हें ला देता है, भौतिक चेतना के लोको को जिन्हें कि सविता बनकर इसने रचा था, उनकी वास्तविक सत्ता के स्वरूपो में माप देता है। यह भी हमारे अदर एक रचना ही है, यद्यपि असल में यह केवल उसे व्यक्त करता है जो पहले से ही विद्यमान है पर हमारे अज्ञान के अधकार से ढका हुआ है,—ठीक उसी तरह जैसे कि भौतिक पृथिवी के प्रदेश अधकार के कारण हमारी आखों से छिपे होते है, पर तब प्रकट हो जाते है जब कि सूर्य अपने प्रयाण में उषा का अनुसरण करता है और एक एक करके उन पार्थिव प्रदेशो को दृष्टि के आगे मापता चलता है। "जिसके प्रयाण का अनुसरण करते हुए अन्य देव भी, उसकी शक्ति द्वारा, दिव्यता की महत्ता को पा लेते हैं। दीप्तिमान् वह सविता देव अपनी महत्ता द्वारा प्रकाश के पार्थिव लोकों को पूर्ण तौर से माप देता है", यस्य प्रयाणमनु अन्ये इद् ययु, देवा देवस्य महिमानम् ओजसा। य पार्थिवानि विममे, स एतश, रजासि देव सविता महित्वना॥ (मत्र ३)

परतु यह केवल हमारी भौतिक या पार्थिव चेतना ही नहीं है जिसे यह दिव्य सत्य इसकी पूरी क्षमता तक आलोकित करता है और इसे पूर्ण क्रिया के लिये तैयार कर देता है। पर यह विशुद्ध मन के तीन प्रकाशमान लोको (त्रीणि रोचना) को भी व्याप्त करता है, यह हमारे अदर सवेदनों और भावोद्वेगों को, प्रज्ञा को, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि को सब दिव्य सभाव्यताओ के सस्पर्श में ले आता है और उच्चतर शक्तियो को उनकी सीमा से तथा भौतिक जगत् के साथ उनके सतत सपर्क से छुड़ाता हुआ यह

हमारी समस्त मानसिक सत्ता को परिपूरित कर देता है। इसकी क्रियाए अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति को पा लेती हैं, वे सूर्य की किरणों द्वारा, अर्थात् हमारे अंदर व्यक्त हुए दिव्य अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) की पूर्ण दीप्ति द्वारा, पूर्ण सत्य के जीवन में आकर इकट्ठी हो जाती हैं। "और हे सवित ! तू तीन प्रकाशमान लोको में जाता है, और तू सूर्य की किरणों द्वारा पूर्ण तौर से अभिव्यक्त किया गया है (या, किरणो द्वारा एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है)", उत यासि सवित त्रीणि रोचना, उत सूर्यस्य रश्मिभि समुच्यसि।

तव यह होता है कि अमरता का, प्रकाशित हुए सच्चिदानद का, उच्च साम्राज्य इस लोक में पूरे तौर से चमक उठता है। इस अतिमानस स्वत-प्रकाश की ज्योति में उच्च और निम्न का वैर शांत हो जाता है। अज्ञान, रात्रि, हमारी पूर्ण सत्ता के दोनों पार्श्वों में, न कि केवल एक पार्श्व में जैसी कि हमारी वर्तमान अवस्था में है, प्रकाशित हो उठती है। यह उच्च साम्राज्य आनद के तत्त्व में प्रकट होता है, जो आनद का तत्त्व हमारे लिये मित्र देवता से द्योतित होनेवाला प्रेम और प्रकाश का तत्त्व है। सत्य का देवता (सविता), जब वह अपने आपको पूर्ण देवत्व में प्रकट करता है, आनद का देवता (मित्र) हो जाता है। उसकी सत्ता का नियम, उसकी क्रियाओं को नियमित करनेवाला तत्त्व, प्रेम रूप धारण करता हुआ देखा जाता है, क्योंकि ज्ञान तथा क्रिया के उचित व्यवस्था में आ जाने पर प्रत्येक ही वस्तु यहा भद्र, ऐश्वर्य, आनंद के रूपों में परिवर्तित हो जाती है। "और तू रात्रि को दोनो पार्श्वों से घेर लेता है, और हे देव ! तू अपनी क्रिया के नियमो से मित्र बन जाता है", उत रात्रीमुभयत परीयसे, उत मित्रो भवसि देव धर्मभि। (मत्र ४)

दिव्य सत्ता का सत्य अतत. अकेला हमारे अदर सब रचनाओं का एकमात्र अधिपति हो जाता है, और अपने सतत अभ्यागमनों द्वारा या अपनी निरतर प्रगतियो द्वारा वह रचयिता पोषक बन जाता है, सविता पूषा बन जाता है। वह एक सतत, उत्तरोत्तर प्रगतिशील रचना के द्वारा हमें समृद्ध

करता चलता है, जब तक कि वह हमारी सभूति के (जो कुछ हुआ है उसके) समस्त लोक (विश्व भुवनम्) को आलोकित नहीं कर देता। हम बढ़ते हुए पूर्ण, विराट्, असीम हो जाते हैं। इस प्रकार 'श्यावाश्व आत्रेय' सविता को अपनी सत्ता के अदर स्तुत—सुस्थापित—कर लेने में सफल हो सका है, उस सविता को जो कि आलोकप्रदाता सत्य है, रचयिता है, प्रगतिशील है, मनुष्य का पोषक है—जो मनुष्य को अहभाव की सीमा में से निकालकर व्यापकता में परिणत कर देता है, सीमित से हटाकर असीम कर देता है। "और तू अकेला ही रचना के लिये शक्ति रखता है, और हे देव! तू गतियों द्वारा पोषक बनता है, और तू इस समस्त लोक को (भुवनम्, शाब्दिक अर्थ है 'सभूति को') पूर्णत प्रकाशित कर देता है। श्यावाश्व ने, हे सवित! तेरे स्तवन को प्राप्त कर लिया है", उन ईशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत्, उत पूषा भवसि देव यामभि। उत इद विश्व भुवन विराजसि, श्यावाश्वस्ते सवित स्तोममानशे॥

छठा अध्याय

दिव्य उषा

ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ६१

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेता स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥१॥

(उषः) हे उषा! (वाजेन वाजिनि) हे सारतत्त्व के भण्डार से समृद्धिशालिनि! (प्रचेता) प्रचेता! तू (गृणतः) जो तुझे अभिव्यक्त करता है उसके (स्तोम) स्तोम को, स्तोत्र-वचन को (जुषस्व) सेवन कर, (मघोनि) हे विपुलतासंपन्ने! (देवि) हे देवि! (पुराणी युवति) जो पुरातन होती हुई भी सदा युवती है (पुरन्धि) तू बहुत विचारोंवाली होकर (व्रतम् अनुचरसि) अपने क्रिया-नियम का पालन करती हुई चलती है, (विश्ववारे) हे सब वरों को धारण करनेवाली!॥१॥

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥२॥

(देवि उषः) हे दिव्य उषा! (अमर्त्या विभाहि) अमृत हो चमक उठ (चन्द्ररथा) आनंदपूर्ण प्रकाश के अपने रथ में बैठी हुई और (सूनृता ईरयन्ती) सत्य की आनंदमयी वाणियों को प्रेरित करती हुई। (त्वा सुयमास अश्वा आवहन्तु) तुझे सुनियन्त्रित घोड़े यहां ले आवें, (ये हिरण्यवर्णा पृथुपाजस) जो घोड़े रंग में सोने जैसे चमकीले तथा गति व शक्ति में विशाल और महान् है॥२॥

उष प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥३॥

(उषः) हे उषा! तू (विश्वा भुवनानि प्रतीची) सब लोको के सम्मुख होकर (ऊर्ध्वा तिष्ठसि) ऊपर खडी होती है (अमृतस्य केतुः)

और उनके लिये अमरता का दर्शन है। (समान अर्थं चरणीयमाना) एक सम क्षेत्र पर गति करती हुई तू, (नव्यसि) हे नूतन दिन रूप! (चक्र इव आ ववृत्स्व) उनपर पहिये की तरह घूम ॥३॥

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।

स्वर्जनन्ती सुभगा सुदसा आन्ताद् दिव पप्रथ आ पृथिव्या ॥४॥

(उषा) उषा (मघोनि) अपने प्राचुर्य में पूर्ण (स्यूम इव अव-चिन्वती) मानो सिये हुए चोगे को उतारती हुई (स्वसरस्य पत्नी) आनन्दमय की पत्नी के रूप में (याति) विचरती है। (स्व जनन्ती) 'स्व' को उत्पन्न करती हुई (सुदसा) अपनी क्रिया में पूर्णतायुक्त (सुभगा) अपने भोगों में पूर्णतायुक्त (आ दिव. अन्तात्) द्युलोक के छोर से लेकर (आ पृथिव्या) पृथिवी के किनारे तक (पप्रथे) विस्तृत होती है ॥४॥

अच्छा वो देवीमुषस विभार्ती प्र वो भरध्व नमसा सुवृक्तिम्।

ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसदृक् ॥५॥

(व) तुम (देवीं उषस) देवी उषा को (विभार्ती) जब वह तुम्हारे प्रति विस्तृत रूप से प्रकाशमान होती है (अच्छ) अच्छी तरह स्वागत करो, (व) तुम (नमसा) उसके प्रति समर्पण के द्वारा (सुवृक्ति) अपने पूर्ण बल को (प्रभरध्व) बाहर निकालो। (ऊर्ध्वं दिवि) ऊपर द्युलोक में (पाज) जो बल है उसको (मधुधा अश्रेत्) मधुरता को स्थापित करती हुई वह श्रयण करती है, वह (रोचना) प्रकाशमान लोकों को (प्ररुरुचे) अच्छी तरह जगमगा देती है और (रण्वसदृक्) परमानन्द का दृश्य उपस्थित करनेवाली है ॥५॥

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।

आयतीमग्न उषसं विभार्ती वाममेषि द्रविण भिक्षमाण ॥६॥

(दिव अर्कै) द्युलोक के प्रकाशनो द्वारा वह उषा (ऋतावरी) सत्य के धारण करनेवाली (आ अबोधि) जानी जाती, देखी जाती है, और (रेवती) आनन्दपूर्ण होकर वह (रोदसी) द्यावापृथिवी में (चित्र) चित्रविचित्र प्रकाश से युक्त (आ अस्थात्) आती है। (अग्ने)

हे अग्नि! (विभातीं आयतीं उषस) चमकती हुई आती उषा से (भिक्षमाणः) मागता हुआ तू (वाम द्रविण) आनन्द के पदार्थ को (एषि) पा लेता है ॥६॥

ऋतस्य बुघ्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानु वि दधे पुरुत्रा ॥७॥

(ऋतस्य बुघ्ने) सत्य के आधार में, (उषसा) उषाओं के आवार में (इषण्यन्) अपनी प्रेरणाओं को प्रवर्तित करता हुआ (वृषा) उनका स्वामी (मही रोदसी) विशाल द्यावापृथिवी में, द्यावापृथिवी की विशालता में (आविवेश) प्रविष्ट होता है। (मित्रस्य वरुणस्य मही माया) मित्र की, वरुण की महती प्रज्ञा (चन्द्रा इव) मानो सुखपूर्ण प्रकाशवती होकर (भानु) ज्योति को (पुरुत्रा विदधे) नानाविध रूप से व्यवस्थित करती है ॥७॥

भाष्य

सूर्य सविता अपने प्रकाश फैलाने के कार्य को तभी करता है जब कि पहले उषा का उदय हो चुका होता है। एक अन्य सूक्त में वर्णन किया गया है कि निरन्तर आनेवाली उषाओ की प्रकाशमय शक्ति के द्वारा मन की गतिया सचेतन और चमकीली होती गयीं। वेद में सर्वत्र ही द्यौ की पुत्री, उषा का यही व्यापार बतलाया गया है। अन्य देवताओ की जागृति की, कार्यशीलता की और वृद्धि की यह माध्यम है; वैदिक सिद्धि प्राप्त करने की यह–उषा का उदय–पहली शर्त है। इसके बढ़ते हुए प्रकाश को पाकर मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति विशद, निर्मल हो जाती है, इसके द्वारा वह (मनुष्य) सत्य को पहुचता है, इसके द्वारा वह परम पद का उपभोग करता है। ऋषियो द्वारा वर्णित दिव्य उषा के उदयन का मतलब उस दिव्य प्रकाश का निकल आना है जो कि एक के बाद एक आवरण के पर्दे को हटाता जाता और मनुष्य के क्रिया-कलाप में प्रकाशमय देवत्व को प्रकट करता जाता है। इसी प्रकाश में कर्म किया जाता है, यज्ञ चलाया जाता है और इसके अभीष्ट फल मानव-जाति द्वारा प्राप्त किये जाते है।

निस्सन्देह ऐसे सूक्त अनेक हैं जिनमें उषा के भौतिक रूप के उज्ज्वल सुन्दर सजीव वर्णन द्वारा उषा देवी का यह आन्तरिक सत्य छिप जाता है, पर महान् ऋषि विश्वामित्र के इस सूक्त में वैदिक उषा की आध्यात्मिक प्रतीकता प्रारम्भ से अन्त तक स्पष्ट दिखायी देती है, खुले तौर पर प्रकट की गयी है, विचार के ऊपरी तल पर विद्यमान है। वह उषा से कहता है, 'हे उष, हे अपने सारतत्त्व के समृद्ध भण्डारवाली! प्रचेता तू उसके स्तोम को सेवन कर जो तुझे अभिव्यक्त करता है, हे तू! जो विपुलतायुक्त है'। 'प्रचेता' यह शब्द तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाला 'विचेता' शब्द, ये वैदिक भाषा-सरणि के पारिभाषिक शब्द हैं, इनका आशय उन्हीं विचारों के अनुरूप प्रतीत होता है जिन्हें आगे चलकर वैदान्तिक भाषा में 'प्रज्ञान और विज्ञान' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। प्रज्ञान वह चेतना है जो सब वस्तुओ को, अपने निरीक्षण के सम्मुख आनेवाले विषयों के रूप में, जानती है, दिव्य मन के अदर यह वस्तुओ के सबध का वह ज्ञान है जो उनके स्रोत, उनके स्वामी और साक्षी के रूप में होता है। विज्ञान वह ज्ञान है जो वस्तुओं के सत्य के साथ एक प्रकार की एकता-स्थापन द्वारा चेतना में उन्हें धारण करता, उनके अदर प्रविष्ट होता और उन्हें व्याप्त करता है। सो उषा ने एक ज्ञान की शक्ति के रूप में–ऐसी ज्ञान की शक्ति के रूप में कि मनुष्य में अभिव्यक्ति के लिये मन के सम्मुख जो कुछ इन द्वारा रखा जाता है उसके सत्य को वह जानती है, उसकी प्रचेता है–ऋषि के प्रकाशकारक विचार तथा शब्द को व्याप्त करना है, सेवन करना है। यह ध्वनित किया गया है कि ऋषि का स्तोम, उप स्तोत्र पूर्ण और विपुल होगा, क्योंकि उषा 'वाजेन वाजिनि' है, 'मघोनि' है, उसके सारतत्त्व का भडार समृद्ध है, उसके पास सब प्रकार की प्रचुरता और विपुलता है।

यह उषा देवी अपने प्रगति-पथ पर सदा एक दिव्य क्रिया के नियम के अनुसार चलती है। वे विचार वहुत से हैं जिन्हें वह इस प्रगति में साथ लाती है, पर उसके पग जमकर पडते हैं और सब वाछनीय वस्तुए,

सब वर–आनद के वर, दिव्य अस्तित्व के आशीर्वाद–उसके हाथो में है। यह पुरातन और सदातन है, उस प्रकाश की उषा है जो आदिकाल से चला आ रहा है, अत 'पुराणी' है, पर अपने आगमन में वह सदा युवती है, सदा नई है, उस आत्मा के लिये जो उसे ग्रहण करता है नित्य नई है। (देखो, मन्त्र १)

उसने चारो ओर चमक उठना है, उसने जो कि दिव्य उषा है, अमर अस्तित्व के प्रकाश के रूप में, मनुष्य के अदर सत्य और आनद की (सूनृता –यह एक शब्द है जो सत्य और सुखमय इन दोनो भावो को इकट्ठा प्रकट करता है) वाणियो या शक्तियो को जगाते हुए, क्योंकि क्या उसकी गति का रथ इकट्ठा प्रकाश और सुख का रथ नहीं है? क्योंकि फिर, 'चद्ररथा' में आया चंद्र शब्द (जिसका कि अर्थ चद्रमा का देवता अर्थात् सोम भी होता है जो कि मनुष्य के अदर बरसनेवाले अमृत के आनद का–आनद और अमृत का–अधिपति है) दोनो, प्रकाशमय और सुखमय, अर्थ को प्रकट करता है। और इसे लानेवाले घोडे पूरी तरह नियन्त्रित होने चाहियें–'घोड़े' यह रूपक है उन वातिक (स्थूल प्राण की) शक्तियो के लिये जो हमारी सब क्रियाओ को सहारा देती और आगे बढाती है। सुनहले, चमकीले रगवाले इन घोड़ो का स्वभाव (क्योंकि इस प्राचीन प्रतीकवाद में रग निदर्शक होता है गुण का, चरित्र का, प्रकृति का) होना चाहिये अपनी सकेद्रित प्रकाशमयता में विद्यमान ज्ञान की क्रियाशीलता का, उज्ज्वल ज्ञानक्रिया का, उस सकेद्रित शक्ति का यह पुज होना चाहिये अपने फैलाव में विशाल या महान्–पृथुपाजसो ये। (देखो, मंत्र २)

इस प्रकार दिव्य उषा अपने ज्ञान के प्रकाश के साथ, प्रज्ञान के साथ, आत्मा के प्रति आती है, अपने उस ज्ञान के क्षेत्रभूत सब लोकों के सम्मुख होकर अर्थात् हमारी विराट् सत्ता के सब प्रदेशो के–मन, प्राण और भौतिक चेतना के–सम्मुख होकर। वह उनके ऊपर, मन से ऊपर की हमारी ऊचाइयो पर, उच्चतम लोको में ऊर्ध्व होकर खड़ी होती है, उनके

लिये अमरता का या अमृतमय का दर्शन बनकर, 'अमृतस्य केतु' होकर, उनमें शाश्वतिक और परम सुखमय अवस्था को या नित्य सनातन आनद-मय देव को प्रकट करती हुई खडी होती है, एव ऊची वह खडी होती है दिव्य ज्ञान की गति को सपादित करने के लिये तैयार होकर, बिल्कुल समतल भूमि पर बिना रगड के चलनेवाले पहिये की तरह वह उनकी (लोको की) सामजस्ययुक्त और समतायुक्त क्रियाओ में आगे आगे बढ़ती है सनातन सत्ता के एक नए नए प्रकाश के रूप में, नव्यसि, क्योंकि वे लोक (मन, प्राण और शरीर के लोक) अब, उनकी नानारूपता और बेसुरापन हट जाने के कारण, इस गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते (देखो, मत्र ३)।

अपनी प्रचुरता से पूर्ण वह, मानो परिश्रम से सीये गये उस चोगे को अपनेसे जुदा करती, अपने ऊपर से उतार डालती है जिसने कि वस्तुओ के सत्य को ढक रखा है और प्रियतम की पत्नी 'स्वसरस्य पत्नी' के तौर पर अर्थात् अपने आनदस्वरूप पति की शक्ति के तौर पर वह विचरती है। अपने सुख के भोग में पूर्णतायुक्त, अपनी क्रियाओं के सपादन करने में पूर्णतायुक्त 'सुभगा सुदसा', वह अपनी प्रकाशस्फुरणाओ द्वारा हमारे अदर 'स्व' को जनित करती है अर्थात् छिपे हुए प्रकाशमान मन को, हमारे उच्चतम मानसिक द्युलोक को उत्पन्न करती है, और इस प्रकार मानसिक सत्ता के दूरतम किनारो से लेकर भौतिक चेतना भर के ऊपर अपने आपको फैला देती है (देखो, मत्र ४)।

जैसे कि यह दिव्य उषा अपने प्रकाश को विस्तृत रूप में मनुष्य के ऊपर डालती है वैसे मनुष्य को भी चाहिये कि वह उसके दिव्य क्रिया और गति के नियम के प्रति समर्पण करने द्वारा उसके लिये अपनी सत्ता की और अपनी सामर्थ्य की पूरी तरह शक्तियुक्त हुई पूर्णता को बाहर ले आवे, प्रकट करे, जिससे कि यह उसके प्रकाश का वाहन बन सके अथवा उसकी यज्ञक्रियाओ का एक स्थान वन सके (देखो, मत्र ५ का पूर्वार्ध)।

इसके वाद ऋषि दिव्य उषा के मनुष्य के अदर जो दो मुख्य कार्य

हैं उनका विस्तार से वर्णन करता है। पहला कार्य है, उषा मनुष्य को प्रकाश की पूरी शक्ति तक ऊपर उठाती है और उसे सत्य का प्रकाश कराती है, दूसरा है, वह मनुष्य पर आनद की, अमृत की, सोमरस की, मानसिक और शारीरिक सत्ता में जो अमर अस्तित्व है उसके आनद की वर्षा करती है। "दिवि" अर्थात् शुद्ध मन के लोक में वह प्रकाश की पूरी शक्ति और मात्रा में ऊपर उठती है–ऊर्ध्वं पाजो अश्रेत्, और उन शुद्ध और उच्च स्तरो से वह मधुरता को, 'मधु को', सोम के मधु को स्थापित करती है। तीन प्रकाशमान लोको–'रोचना'–को वह अच्छी तरह चमका देती है, तब वह परमानन्द का दृश्य बन जाती है या इस दृश्य को उपस्थित करनेवाली होती है (देखो, मत्र ५ का उत्तरार्ध)। शुद्ध मनोवृत्ति के कार्यसाधक प्रकाशो से, सिद्धिदायक मत्रो द्वारा, 'दिवो अर्कैं', वह सत्य के धारण करनेवाली के रूप में दिखायी देती है और इस सत्य के साथ, मन से ऊपर के लोक से आकर, आनन्द से परिपूर्ण वह अपनी विविध विचार और क्रिया की चित्र विचित्र क्रीडा करती हुई मानसिक और शारीरिक चेतना में (रोदसी)–ये वे दो सीमाएं हैं जिनके कि बीच में मनुष्य का कर्म गति करता है–प्रविष्ट होती है। इस उषा से ही, जब यह इस प्रकार समृद्धिशालिनी (वाजेन वाजिनी) होकर वहां से आती है, अग्नि (जो कि वह दिव्य शक्ति है जो मर्त्य को ऊपर उठाने के लिये यहा शरीर में और मन में काम कर रही है) सोम को पाने की प्रार्थना करता है और उसे पा लेता है–वह सोम जो परमानद का पान है, आनदमय सारपदार्थ है (देखो, मत्र ६)।

हमारे अदर जो अतिमानस (विज्ञानमय) लोक है, जो सत्य का आधार है वही उषाओं का आधार है। ये उषाएं मर्त्य प्रकृति के अदर उस अमर्त्य सत्य के, 'ऋतम् ज्योति' के प्रकाश के अवतरणभूत हैं। इन उषाओं का अधिपति, सत्य का स्वामी, प्रकाशक, उत्पादक, व्यवस्थापक, मनोऽतीत सत्य के आधार में अपनी क्रियाओ की प्रेरणा को प्रवर्तित करता हुआ, उनके साथ इस उषा देवी के द्वारा मानसिक और शारीरिक सत्ता

में प्रविष्ट होता है जो मानसिक और शारीरिक सत्ताए अब अधकाराच्छन्न नहीं रही है, अपने सीमाबधनों से मुक्त तथा विशालता को धारण करने योग्य हो गयी है, 'मही रोदसी'। सत्य का अधिपति वस्तुओं का एक-मात्र अधिपति है। वह है वरुण, विशालता और पवित्रता की आत्मा। वह है मित्र, प्रेम, प्रकाश और सामजस्य का स्रोत। उसकी सर्जन करने-वाली प्रज्ञा—मही मित्रस्य॰वरुणस्य माया—जो कि अपने क्षेत्र में अमर्यादित है (क्योकि वह वरुण है), जो आनद और हर्ष की ज्योति की तरह (चद्रेव) प्रतीत होती है (क्योकि वह मित्र है), सत्य की गभीर अभि-व्यक्तियो को, प्रकाशमय अभिव्यक्तियो को, नानाविध रूपो में, मुक्त हुई प्रकृति की विशालता में, व्यवस्थित करती है, पूर्णतया सघटित करती है। वह उन विविध ज्योतियों को जिनके साथ कि उसकी उषा हमारे द्यावापृथिवी (मन, शरीर) में प्रविष्ट हुई है एकत्रित कर देता है, सयुक्त कर देता है, वह उस (उषा) की सच्ची और सुखकर वाणियों को एक समस्वरता में मिला देता, सामजस्ययुक्त कर देता है (देखो, मंत्र ७)।

दिव्य उषा परमदेव का आगमन है। वह है सत्य और परमसुख की ज्योति जो कि हमपर ज्ञान और आनद के अधिपति की तरफ से बरस रही है—अमृतस्य केतु, स्वसरस्य पत्नी।

सातवा अध्याय

भग सविता, आनन्दोपभोक्ता

ऋग्वेद, मण्डल ५, सूक्त ८२

तत् सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठ सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥१॥

(सवितु देवस्य) सविता देव के (तत् भोजनम्) उस आनदोपभोग को (वय वृणीमहे) हम वरते है (श्रेष्ठम्) जो सर्वश्रेष्ठ है (सर्वधातमम्) सबको समुचित रूप से व्यवस्यापित करनेवाला है (तुर) लक्ष्य पर पहुचानेवाला है, (भगस्य) भग के उस आनद को (धीमहि) हम विचार द्वारा ग्रहण करते है ॥१॥

अस्य हि स्वयशस्तरम् सवितु कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥२॥

(हि) क्योकि (अस्य [भगस्य] सवितु) इस आनंदोपभोक्ता सविता के (कच्चन प्रिय) किसी भी वस्तु के सुख को (न मिनन्ति) वे क्षीण नहीं कर सकते, (स्वयशस्तरम्) क्योकि यह अत्यत आत्मविजयशील है, (न स्वराज्यम्) न ही उसके स्वराज्य को [क्षीण कर सकते है] ॥२॥

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भग।
तं भाग चित्रमीमहे ॥३॥

(स हि) वह ही (दाशुषे) उत्सर्ग करनेवाले के लिये (रत्नानि सुवाति) आनदों को प्रेरित करता है (स सविता भग) वह ऐसा भग देव है जो कि वस्तुओ का उत्पादक है, (त चित्र भागम्) उसके उस विविध-रूप ऐश्वर्योपभोग को (ईमहे) हम चाहते है ॥३॥

अद्या नो देव सवित प्रजावत् सावी॰ सौभगम्।
परा दु ष्वप्न्य सुव ॥४॥

(अद्य) आज (देव सवित) हे दिव्य रचयिता (न) हमपर (प्रजावत् सौभगम्) फलयुक्त आनद को (सावी) प्रेरित कर, (दुष्वप्न्यम्) उसे जो कि दुस्वप्न से सबध रखता है (परासुव) दूर कर ॥४॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्र तन्न आ सुव ॥५॥

(विश्वानि दुरितानि) सब बुराइयो को (देव सवित) हे दिव्य रचयिता, तू (परासुव) दूर कर दे, (यद् भद्र) जो श्रेयस्कर है (तत्) उसको (नः आसुव) हमपर प्रेरित कर ॥५॥

अनागसो अदितये देवस्य सवितु सवे।
विश्वा वामानि धीमहि ॥६॥

(अनागस) निर्दोष होकर (अदितये) असीम सत्ता के लिये (देवस्य सवितु सवे) दिव्य रचयिता से होनेवाले सव में, हम (विश्वा वामानि) सब आनद की वस्तुओं को (धीमहि) विचार द्वारा ग्रहण करते है ॥६॥

आ विश्वदेवं सत्पति सूक्तैरद्या वृणीमहे।
सत्यसव सवितारम् ॥७॥

(विश्वदेवम्) विश्वव्यापी देव (सत्पतिम्) और सत्ता के अधिपति को (सूक्तै) पूर्ण शब्दों के द्वारा (अद्य आवृणीमहे) आज हम अपने अदर स्वीकार करते है, (सत्यसव सवितारम्) उस रचयिता को जिसकी रचना सत्यमय है ॥७॥

य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्।
स्वाधीर्देव सविता ॥८॥

(य देव सविता) जो दिव्य रचयिता (अप्रयुच्छन्) कभी स्खलन को प्राप्त न होता हुआ (स्वाधी) अपने विचार को उचित प्रकार से स्थापित करता हुआ (इमे उभे अहनी) इन दिन और रात दोनों के (पुर एति) सम्मुख जाता है ॥८॥

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन।
प्र च सुवाति सविता ॥९॥

(य. सविता) जो रचयिता (श्लोकेन) लय के साथ (इमा विश्वानि जातानि) इन सब प्रजाओ को (आश्रावयति) ज्ञान में श्रवण कराता है (प्रसुवाति च) और उन्हें उत्पन्न कर देता है।।९।।

भाष्य

चार महान् देव सर्वत्र वेद में अपने स्वरूप में और अपने कार्य में निकटतया सवद्ध दिखायी देते है, वे है वरुण, मित्र, भग, अर्यमा। वरुण और मित्र, ऋषियों के विचारो में सदा युगलरूप में जुड गये है, कहीं कहीं वरुण, मित्र और भग अथवा वरुण, मित्र और अर्यमा का एक त्रैत भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सूक्त अपेक्षाकृत वहुत कम है जो इनमेंसे किसी एक देव को पृथक् रूप में सवोधित किये गये हो, यद्यपि कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्त है जिनका कि देवता वरुण है। पर ऐसी ऋचाए जिनमें इन देवों के नाम आ जाते है और वे ऋचाएं अन्य किन्हीं देवो की हों या विश्वेदेवा के आवाहन में हो, किसी भी प्रकार सख्या में कम नहीं है।

ये चारों देवता सायण के अनुसार, सौर शक्तियां है, वरुण सूर्य का अभावात्मक रूप है और इस प्रकार रात्रि का देवता है, मित्र भावात्मक रूप होकर दिन का देवता है, भग और अर्यमा सूर्य के नाम है। इन विशेष प्रकार की तद्रूपताओ को अधिक महत्ता देने की हमें आवश्यकता नहीं है, पर इतना तो निश्चित है कि इन चारो देवों को कोई सौर धर्म ही परस्पर जोडता है। वैदिक देवो का यह विशेष स्वरूप कि वे अपने व्यक्तित्वो तथा व्यापारो तक में विभिन्न होते हुए वास्तविक एकता रखते है, इन चार देवो के विषय में विशेष तौर से प्रकाश में आ जाता है। ये चारों अपने आपमें घनिष्ठता के साथ केवल संवद्ध ही नहीं है, परतु वे एक दूसरे के स्वभाव और धर्मों में भागी होते हुए दिखायी देते है और ये सव स्पष्टत. सूर्य सविता के उद्भव है जो सूर्य सविता अपने रचनात्मक और प्रकाशक सौर रूपोवाली दिव्य सत्ता है।

सविता सूर्य रचयिता है। सव लोक, वस्तुओ के सत्य के अनुसार, ऋतम् के अनुरूप, दिव्य चेतना से, उस अदिति से, पैदा हुए है जो कि

असीम सत्ता की देवी है, देवो की माता है, अविभाज्य चेतना है, ऐसी ज्योति है जो क्षीण नहीं हो सकती, जो वध न की जा सकनेवाली रहस्यमयी गौ के प्रतीक से निरूपित हुई है। उस रचना में वरुण और मित्र, अर्यमा और भग ये चार कार्यनिर्वाहक बल है, देवता है। वरुण द्योतक है विशुद्ध और बृहत् सत्ता के लोक का, सच्चिदानद के सत् का; अर्यमा द्योतक है दिव्य चेतना के प्रकाश का जो कि शक्ति के रूप में कार्य करता है, मित्र प्रकाश और ज्ञान का द्योतक होता हुआ, रचना के लिये आनद के तत्त्व का उपयोग करता हुआ, वह प्रेम है जो कि समस्वरता के नियम को स्थापित रखता है, भग द्योतक है रचनाशील सुख रूपी आनद का, वह रचना के आनद का उपभोग करता है, जो कुछ विरचित हुआ है उस सबका आनद लेता है। यह वरुण की, मित्र की माया, उत्पादक प्रज्ञा है जो कि अदिति के उस प्रकाश को विविध प्रकार से विनियुक्त करती है जो प्रकाश उषा द्वारा लोको को अभिव्यक्त करने के लिये लाया जाता है।

अपने आध्यात्मिक व्यापार में भी ये चारो देव मानव-मन में, मानव स्वभाव में कार्य कर रहे उपर्युक्त चार तत्त्वों के ही द्योतक होते है। वे मनुष्य के अदर उसकी सत्ता के विभिन्न स्तरो को रचते है और उन्हें अत में दिव्य सत्य के रूपो में और वृत्तियो में ढाल देते है। विशेषतया मित्र और वरुण तो निरतर इस रूप में वर्णित हुए है कि वे अपने कर्म के नियम को दृढ़ता से धारण करते है, सत्य को बढ़ाते है, सत्य को स्पर्श करते है और उस सत्य द्वारा दिव्य सकल्प की विशालता का या उसके महान् और असबाधित यज्ञिय कर्म का आनद लेते है। वरुण द्योतक है विशालता, सत्य और पवित्रता का, प्रत्येक वस्तु जो सत्य से, पवित्रता से, च्युत हो जाती है, वह वरुण की सत्ता से परावृत्त हो जाती है और अपराधी को उसके पाप के दण्डस्वरूप आघात पहुचाती है। मनुष्य तब तक जब तक कि वह वरुण के सत्य की विशालता को नहीं पा लेता, यज्ञ-पशु के रूप में विश्वयज्ञ के स्तभो में मन, प्राण और शरीर के त्रिविध बधनो

से बंधा रहता है और स्वामी या उपभोक्ता के तौर पर मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिये ऐसी प्रार्थनाएं बहुत मिलती हैं कि हम वरुण के पाश से, उसके पवित्रता-भग के रोष से, मुक्त हो जायं। दूसरी तरफ मित्र देवों में अधिक प्रिय है; वह अपनी समस्वरता की स्थिरताओं द्वारा, उत्तरोत्तर प्रकाशमान धामों द्वारा, मित्रस्य धामभि, सबको बांध लेता है। उसका नाम 'मित्र', जिसका अर्थ सखा भी है, सतत रूप से द्व्यर्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है, मित्र रूप होने के नाते ही अन्य देव भी मनुष्य के मित्र (सखा) बन जाते हैं, क्योंकि मित्र देव उन सबके अंदर निवास करता है। अर्यमा के व्यक्तित्व की स्पष्ट भिन्नता वेद में बहुत कम दिखायी देती है, क्योंकि उसका निर्देश करनेवाले स्थल स्वल्प ही हैं। भग के व्यापार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट हुए हैं, और वे विश्व में बाहर तथा मनुष्य के अंदर दोनों जगह एक से हैं।

सविता को कहे गये श्यावाश्व के इस सूक्त में हमें दोनों बातें मिलती हैं, भग के व्यापार और सविता सूर्य के साथ उसकी एकता; क्योंकि सूक्त सम्बोधित तो किया गया है सूर्य को, सत्य के रचनाकारक देव को, पर सूर्य यहां विशेष तौर से भग, आनंदोपभोग के देवता, के रूप में आया है। भग शब्द का अर्थ है उपभोग या आनन्दोपभोक्ता और यही आशय इस देव-नाम 'भग' में उचित है यह बात इसी सूक्त की ऋचाओं में 'भोजनम्', 'भाग', 'सौभगम्', के प्रयोग से और भी दृढ़तापूर्वक द्योतित कर दी गयी है। सविता का अर्थ, हम देख चुके हैं, रचयिता है, पर रचना का मतलब यहां विशेषतया उत्पन्न करना, अव्यक्तावस्था से प्रेरित कर, निकाल करके व्यक्तावस्था में लाना है। सारे सूक्त में सतत रूप से शब्द के इसी धात्वर्थ को लेकर सारी रचना की गयी है, जिसे कि अनुवाद में पूरे तौर से ला सकना असम्भव है। पहली ही ऋचा में इस प्रकार का एक गूढ़ प्रयोग है, क्योंकि 'भोजनम्' के दोनों अर्थ हैं उपभोग (आनंदोपभोग) और खाद्य सामग्री। और यहां यह आशय देना अभिप्रेत प्रतीत होता है कि 'सविता का उपभोग' सोम है, जो कि देवों का भोजन

रम रस है, महान् उत्पादक की सर्वोच्च उत्पादित वस्तु है (सोम
सी 'षु' धातु से बना है जिससे कि सविता और इसका अर्थ है
। करना, निचोड़ना, रस क्षरित करना)। जो कुछ ऋषि चाहता है
ग्रह है कि वह सब विरचित वस्तुओ में अमृत का और अमृतकारक
का आस्वादन कर सके।

यही वह आनद है जो कि रचयिता का, सूर्य सविता का उपर्युक्त
ोग है, जो सत्य का सर्वोच्च परिणाम है, क्योकि सत्य का इस रूप
नुसरण किया जाता है कि वह दिव्य आनद की प्राप्ति का मार्ग है।
आनद सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट उपभोग है। यह सबको समुचित रूप से
स्थित कर देता है, क्योकि एक बार जब आनद, सब वस्तुओं में
त दिव्य आनद, प्राप्त हो जाता है तब यह सब विकृतियो को, जगत्
सब बुराई को, ठीक कर देता है। यह मनुष्य को, मार्ग की सब बाधा
र, लक्ष्य पर पहुचा देता है। यदि वस्तुओ के सत्य और औचित्य
य और ऋत) द्वारा हम आनद को पा लेते है तो साथ ही आनद
हम वस्तुओ के औचित्य और सत्य को भी पा सकते है। सब वस्तुओ
दिव्य तथा उचित आनद को प्राप्त कर लेने की यह मानवीय क्षमता
नाम व स्वरूपवाले दिव्य रचयिता से ही सबध रखती है। जब वह
' मनुष्य के मन और हृदय और प्राण (शक्तियो) और भौतिक सत्ता द्वारा
र्गित होता है, जब यह दिव्य स्वरूप (भग) मनुष्य द्वारा अपने
: गृहीत किया जाता है, तब जगत् का आनद अपने आपको अभि-
त करता है। (मत्र १)

यह दिव्य आनदोपभोक्ता वस्तुओ में, अपने आनद के जिस किसी भी पात्र
विषय में, जिस आनद को ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं
सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र
ही शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव। क्योकि उसके
शमान स्वराज्य को, स्वराज्यम्–अर्थात् सत्य-क्रम की असीम सत्ता में,
म आनद में और विशालताओ में उसके अपने आपको पूर्णतया

धारित रखने को, उसके आत्माधिकृत रहने को—कोई भी क्षीण, सीमित या आहत नहीं कर सकता। (मत्र २)

इसलिये वही है जो हवि-प्रदाता के लिये सात आनदों, सप्त रत्ना, को प्राप्त कराता है। वह उन्हें हमपर प्रेरित, सुत कर देता है, क्योंकि वे सब जहां दिव्य सत्ता के अन्दर हैं वहा इस ससार में भी हैं, वे हमारे अदर भी है और आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे हमारी बाह्य चेतना पर प्रेरित कर दिये जाय, उत्पन्न कर दिये जाय। इस सप्तविध आनंद की समृद्ध और चित्र-विचित्र विपुलता, जो कि हमारी सत्ता के सभी स्तरो पर पूर्णता-युक्त रहती है, सपन्न हुए यज्ञ में भग सविता का भाग है अर्थात् उपभोग या हिस्सा है, और यही वह चित्र-विचित्र सम्पत्ति है जिसे ऋषि यज्ञ में दिव्य आनदोपभोक्ता को स्वीकृत करने द्वारा अपने और अपने साथियों के लिये पाना चाहता है। (मत्र ३)

इसके बाद श्यावाश्व भग से यह प्रार्थना करता है कि वह उसे कृपा करके आज वह आनद प्रदान करदे जो कि फलशून्य न हो बल्कि क्रिया-शीलता के फलो से लदा हो, आत्मा की प्रजा से समृद्ध हो, प्रजावत् सौभगम्। आनद रचनाशील है, 'जन' है अर्थात् वह आनद है जो कि जीवन को और विश्व को उत्पन्न करता है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि वस्तुए जो कि हमपर प्रेरित हो वे सत्य द्वारा संकल्पित रचना से युक्त हो और वह सब जो कि असत्य से, दिव्य सत्य के प्रति अज्ञान के कारण पैदा होनेवाले दुःस्वप्न से संबध रखता है, दुःष्वप्न्यम्, दूर हो जाये, हमारी सचेतन सत्ता से निकल जाये। (मन्त्र ४)

अगली ऋचा में वह दुःष्वप्न्यम् के आशय को और अधिक स्पष्ट कर देता है। जिसे वह चाहता है कि उसके पास से दूर हट जाये वह है सब प्रकार की बुराई, विश्वानि दुरितानि। 'सुवितम्' और 'दुरितम्' का वेद में शाब्दिक अर्थ है 'ठीक चाल' और 'गलत चाल'। 'सुवितम्' है विचार और कर्म का सत्य, 'दुरितम्' है भूल या स्खलन, पाप और विपरीतता। 'सुवितम्' है सुखपूर्ण चलन, परम सुख, आनद का मार्ग; 'दुरितम्'

है विपत्ति, कष्ट, भूल और कुश्चलन का सब दुष्परिणाम। वह सब जो कि बुराई है, विश्वानि दुरितानि, उसका सबध उस दु स्वप्न से है जिसे कि हमारे पास से दूर हटाया जाना है। भग उसे हटाकर उसके स्थान में हमारे पास उसे भेज देता है जो कि अच्छा है—भद्रम्, अच्छा इस अर्थ में कि वह परम सुख के अनुकूल है अर्थात् दिव्य उपभोग की सब शुभ और मगलकारी वस्तुए, सत्य क्रिया, सत्य रचना का सुख। (मत्र ५)

क्योकि भग सविता की रचना में, उसके पूर्ण और त्रुटिरहित 'सवन' में (यज्ञ में) ('सव', शब्द में दो अर्थ है, एक तो उत्पत्ति, रचना और दूसरा रस का क्षरण, देवो को सोमरस अर्पित करना), मनुष्य आनद द्वारा पाप व दोष से मुक्त होकर, अनागस, अदिति की दृष्टि में निर्दोष हो जाते है, उन्मुक्त आत्मा की अविभक्त और असीम चेतना के योग्य हो जाते है। आनद उस स्वतत्रता के कारण उनके अदर विश्वव्यापी होने योग्य हो जाता है। वे इस योग्य हो जाते है कि अपने विचार द्वारा आनद की सब वस्तुओ को, विश्वा वामानि, ग्रहण कर सके, क्योंकि 'धी' में, उस प्रज्ञा में जो कि ग्रहण करनेवाली और क्रमबद्ध करनेवाली है, विश्व का सब उचित क्रम रहता है, उचित सबध का, उचित प्रयोजन का, उचित प्रयोग का और उचित परिपूर्णता का बोध होता रहता है, सब वस्तुओ के अदर दिव्य और सुखपूर्ण अर्थ दिखलायी देता है। (मत्र ६)

यज्ञकर्त्ता आज जिसे भग सविता के नाम से पवित्र मत्रो द्वारा अपने अदर ग्रहण करना चाह रहे है वह है विश्वव्यापी देव, सत् का वह अधिपति जिससे कि सब वस्तुए सत्य के रूप में रची गयी है। यह वह रचयिता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मा में अपने निजी आनद के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृष्टि कर देना। वह सूर्य सविता सत्य के अधिपति के रूप में दोनों के सम्मुख जाता है, रात्रि और उषा के, अव्यक्त चेतना और व्यक्त चेतना के, जागृत सत्ता और अवचेतन तथा अतिचेतन

सत्ता के, जिनकी पारस्परिक अत क्रिया हमारी सब अनुभूतियो को रचती है; और अपनी गति में वह किसी को उपेक्षित नहीं करता, कभी बे-ध्यान नहीं होता, कभी स्खलन को प्राप्त नहीं होता। वह दोनो के सम्मुख जाता है, अवचेतन की रात्रि के अदर से दिव्य प्रकाश को निकाल लाता है, सचेतन के अनिश्चित या विकृत प्रतिबिम्बो को उस प्रकाश की देदीप्यमान किरणो में परिवर्तित कर देता है, और सदा ही विचार उचित रूप में रखा जाता है। सब त्रुटियो का मूल है अनुचित विनियोग, सत्य का अनुचित रूप में स्थापन, अनुचित क्रम-प्रदान, अनुचित सबध, समय और स्थान में, विषय और क्रम में अनुचित स्थितिकरण। परन्तु सत्य के अधिपति में ऐसी कोई त्रुटि, ऐसा कोई स्खलन, ऐसा कोई अनौचित्यपूर्ण स्थापन नहीं होता। (मत्र ७, ८)

सविता सूर्य, जो कि भग है, असीम के और (हमारे अदर और बाहर के) विरचित लोकों के बीच में स्थित होता है। सब वस्तुओ को, जिन्हें कि रचनाशील चेतना के अंदर उत्पन्न होना है, वह विज्ञान के अदर ग्रहण करता है; वहा वह उस ज्ञान के द्वारा जो कि अवतरण करते हुए शब्द को श्रवण करता है और ग्रहण करता है, इन्हें इनके उचित स्थान में दिव्य लय के साथ स्थापित करता है और इस प्रकार वह इन्हें वस्तुओ की गति के अदर प्रेरित कर देता है, आश्रावयति श्लोकेन प्र च सुवाति। जब हमारे अदर क्रियाशील आनद की प्रत्येक रचना, प्रजावत् सौभगम्, इस प्रकार वस्तुओ की त्रुटिरहित लय के साथ ज्ञान द्वारा गृहीत होकर और ठीक ठीक श्रवण की जाकर, अव्यक्त में से बाहर निकलती है तब हमारी वह रचना भग सविता की रचना होती है, और उस रचना के सब जन्म, हमारे बच्चे, हमारी सन्तानें, प्रजा, अपत्य, हो जाती हैं आनद की वस्तुए, विश्वा वामानि। यह है मनुष्य के अदर भग का कार्य, विश्व-यज्ञ में होनेवाला उसका पूर्ण भाग।

है विपत्ति, कष्ट, भूल और दुश्चलन का सब दुष्परिणाम। वह सब जो कि बुराई है, विश्वानि दुरितानि, उसका सबध उस दु स्वप्न से है जिसे कि हमारे पास से दूर हटाया जाना है। भग उसे हटाकर उसके स्थान में हमारे पास उसे भेज देता है जो कि अच्छा है—भद्रम्, अच्छा इस अर्थ में कि वह परम सुख के अनुकूल है अर्थात् दिव्य उपभोग की सब शुभ और मगलकारी वस्तुए, सत्य क्रिया, सत्य रचना का सुख। (मत्र ५)

क्योकि भग सविता की रचना में, उसके पूर्ण और त्रुटिरहित 'सवन' में (यज्ञ में) ('सव', शब्द में दो अर्थ है, एक तो उत्पत्ति, रचना और दूसरा रस का क्षरण, देवो को सोमरस अर्पित करना), मनुष्य आनद द्वारा पाप व दोष से मुक्त होकर, अनागस, अदिति की दृष्टि में निर्दोष हो जाते है, उन्मुक्त आत्मा की अविभक्त और असीम चेतना के योग्य हो जाते है। आनद उस स्वतत्रता के कारण उनके अदर विश्वव्यापी होने योग्य हो जाता है। वे इस योग्य हो जाते है कि अपने विचार द्वारा आनद की सब वस्तुओ को, विश्वा वामानि, ग्रहण कर सके, क्योकि 'धी' में, उस प्रज्ञा में जो कि ग्रहण करनेवाली और क्रमबद्ध करनेवाली है, विश्व का सब उचित क्रम रहता है, उचित सबध का, उचित प्रयोजन का, उचित प्रयोग का और उचित परिपूर्णता का बोध होता रहता है, सब वस्तुओ के अदर दिव्य और सुखपूर्ण अर्थ दिखलायी देता है। (मत्र ६)

यज्ञकर्त्ता आज जिसे भग सविता के नाम से पवित्र मत्रो द्वारा अपने अदर ग्रहण करना चाह रहे है वह है विश्वव्यापी देव, सत् का वह अधिपति जिससे कि सब वस्तुए सत्य के रूप में रची गयी है। यह वह रचयिता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मा में अपने निजी आनद के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृष्टि कर देना। वह सूर्य सविता सत्य के अधिपति के रूप में दोनो के सम्मुख जाता है, रात्रि और उषा के, अव्यक्त चेतना और व्यक्त चेतना के, जागृत सत्ता और अवचेतन तथा अतिचेतन

सत्ता के, जिनकी पारस्परिक अत क्रिया हमारी सब अनुभूतियों को रचती है; और अपनी गति में वह किसी को उपेक्षित नहीं करता, कभी बे-ध्यान नहीं होता, कभी स्खलन को प्राप्त नहीं होता। वह दोनो के सम्मुख जाता है, अवचेतन की रात्रि के अदर से दिव्य प्रकाश को निकाल लाता है, सचेतन के अनिश्चित या विकृत प्रतिविम्वो को उस प्रकाश की देदीप्यमान किरणो में परिवर्तित कर देता है, और सदा ही विचार उचित रूप में रखा जाता है। सब त्रुटियो का मूल है अनुचित विनियोग, सत्य का अनुचित रूप में स्थापन, अनुचित क्रम-प्रदान, अनुचित सबध, समय और स्थान में, विषय और क्रम में अनुचित स्थितिकरण। परन्तु सत्य के अधिपति में ऐसी कोई त्रुटि, ऐसा कोई स्खलन, ऐसा कोई अनौचित्यपूर्ण स्थापन नहीं होता। (मत्र ७, ८)

सविता सूर्य, जो कि भग है, असीम के और (हमारे अदर और बाहर के) विरचित लोको के बीच में स्थित होता है। सब वस्तुओ को, जिन्हें कि रचनाशील चेतना के अदर उत्पन्न होना है, वह विज्ञान के अदर ग्रहण करता है; वहा वह उस ज्ञान के द्वारा जो कि अवतरण करते हुए शब्द को श्रवण करता है और ग्रहण करता है, इन्हें इनके उचित स्थान में दिव्य लय के साथ स्थापित करता है और इस प्रकार वह इन्हें वस्तुओ की गति के अंदर प्रेरित कर देता है, आश्रावयति श्लोकेन प्र च सुवाति। जब हमारे अंदर क्रियाशील आनद की प्रत्येक रचना, प्रजावत् सौभगम्, इस प्रकार वस्तुओ की त्रुटिरहित लय के साथ ज्ञान द्वारा गृहीत होकर और ठीक ठीक श्रवण की जाकर, अव्यक्त में से बाहर निकलती है तब हमारी वह रचना भग सविता की रचना होती है, और उस रचना के सब जन्म, हमारे बच्चे, हमारी सन्तानें, प्रजा, अपत्य, हो जाती हैं आनद की वस्तुएं, विश्वा वामानि। यह है मनुष्य के अदर भग का कार्य, विश्व-यज्ञ में होनेवाला उसका पूर्ण भाग।

वायु, प्राणशक्तियों का अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ४८

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥१॥

(रायः विप) आनद के अभिव्यजक, और (अर्य न) कर्म के कर्त्ता की तरह, तू (अवीता होत्रा) अव्यक्त पडी यज्ञिय शक्तियो को (विहि) व्यक्त कर दे, (वायो) हे वायु, (चन्द्रेण रथेन) सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढकर (आयाहि) तू आ, (सुतस्य पीतये) सोमरस को पीने के लिये ॥१॥

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥२॥

(अशस्ती) सब अनभिव्यक्तियो को (निर्युवाण) अपने पास से दूर हटाता हुआ (नियुत्वान्) अपने 'नियुत' घोडो सहित और (इन्द्रसारथि) इन्द्र को सारथि के रूप में लेकर [हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढकर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥२॥

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥३॥

दोनो जो कि (कृष्णे) अन्धकारावृत हैं, तो भी (वसुधिती) सब ऐश्वर्यों को धारण किये हुए हैं, और (विश्वपेशसा) जिनके अन्दर सब रूप हैं (अनुयेमाते) अपने प्रयत्न में तेरा अनुसेवन करेंगे। [आ, हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥३॥

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥४॥

(युक्तास) जुते हुए (मनोयुज) मन द्वारा जोते जानेवाले (नवति नव) निन्यानवे [घोडे] (त्वा वहन्तु) तुझे वहन करें। [हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ पर चढ़कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥४॥

वायो शत हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥५॥

(वायो) ओ वायु, तू (शत हरीणाम्) अपने सौ चमकीले घोडो को (पोष्याणाम्) जो कि पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाना है (युवस्व) नियुक्त कर दे, (उत वा) अथवा (ते सहस्रिण रथ) हजार [घोडों] से युक्त तेरा रथ (पाजसा) अपने अति वेग के साथ (आयातु) आवे ॥५॥

भाष्य

वैदिक ऋषियों के अध्यात्मसम्बन्धी आलोचन प्राय कर एक आश्चर्यजनक गूढता को लिये हुए है और सबसे अधिक गूढ़ता वहा है जहा कि वे अवचेतन के अदर से उद्भूत होती हुई मन और प्राण की सचेतन क्रियाशीलताओं की घटना का वर्णन करते हैं। यहा तक कहा जा सकता है कि यह विचार ही उस समृद्ध और सूक्ष्म दर्शन (Philosophy) का सारा आधार है जो (दर्शन) ज्ञान की उस प्राचीन उषा में इन अन्त प्रेरणायुक्त रहस्यवादियो द्वारा आविष्कृत किया गया था। और ऋषि वामदेव ने जैसी सूक्ष्मता तथा उत्तमता के साथ इसे व्यक्त किया है उससे बढकर कोई और नहीं कर सका है, यह ऋषि गभीरतम द्रष्टाओ में से एक है और साथ ही वैदिक युग के मधुरतम गायको में से है। उसके सूक्तो में से एक, चतुर्थ मडल का अतिम सूक्त, सचमुच सबसे अधिक महत्त्व की कुजी है जो कि उस प्रतीकवाद को खोलने के लिये हमें मिलती है जिस प्रतीकवाद ने यज्ञ के रूपको के पीछे उन अध्यात्मसंबंधी अनुभवों व बोधो के वास्तविक रूपो को छिपा रखा है जिन्हें आर्य पूर्वज इतना अधिक पवित्र मानते थे।

उस सूक्त में वामदेव अवचेतन के उस समुद्र का वर्णन करता है जो हमारे जीवन और क्रियाशीलता आदि सबके आधार में है। उस

समुद्र में से संवेदनात्मक सत्ता की 'मधुमय' लहर उठती है, जो अपने असिद्ध आनद के बोझ से अभी मुक्त नहीं हुई है, वह 'घृत' और 'सोम' से भरपूर होकर अर्थात् उस विशुद्ध मानसिक चेतना तथा उस प्रकाशमान आनद से भरपूर होकर जो ऊपर से आता है, ऊपर उठती है अमरता के आकाश की ओर। मानसिक चेतना का 'गुह्य नाम', वह जिह्वा जिससे देवता जगत् का स्वाद लेते है, और अमरता की नाभि, वह आनद ही है जिसका कि प्रतीक 'सोम' है*। क्योंकि सारी रचना अवचेतन के अदर मानो चार सींगोवाले बैल, दिव्य पुरुष, द्वारा उद्वमन कर दी गयी है, जिसके चार सींग है असीम सत्ता (सत्), चेतना (चित्), सुख (आनद) और सत्य (विज्ञान)†। प्रागैतिहासिक युग की प्राचीन रहस्यमयी और प्रतीकात्मक कला के अवशेषभूत, उच्च कोटि के विसगत वचनो और विचित्र से अलकारों की स्मृति करा देनेवाले, बहुत ही प्रबल परस्परविरोधवाले रूपको में, वामदेव हमारे सामने पुरुष का वर्णन एक बैल के रूप में करता है, जिसके चार सींग है और ये है, चार दिव्य तत्त्व, तीन पैर या तीन टागें है जो है तीन मानवीय तत्त्व—मनोवृत्ति, प्राणमय सक्रियता और भौतिक स्थूल तत्त्व, दो सिर है, अर्थात् आत्मा और अनात्मा की, या पुरुष और प्रकृति की, द्विविध चेतना, सात हाथ है, अर्थात् सप्तविध प्राकृतिक क्रियाए, जो कि सात लोको के अनुसार हुआ करती है। "तीन स्थानो

---

*समुद्रादूर्मि मंधुर्मा उदारदुपाशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्य यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभि ॥ ४.५८.१

(समुद्रात्) समुद्र से (मधुमान् ऊर्मि) मधुमय लहर (उदारत्) उठती है, (अशुना) इस सोम द्वारा मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरता को (उप स आनट्) पूर्ण रूप से पा लेता है। (यत्) जो सोम (घृतस्य गुह्य नाम) निर्मलता का गुह्य नाम, (देवाना जिह्वा) देवों की जिह्वा, (अमृतस्य नाभि) अमृत की नाभि (अस्ति) ह।

†चतु शृङ्गोऽवमीद् गौर एतत् ॥४ ५८.२

में बद्ध—अर्थात् मन में बद्ध, प्राणशक्तियो में बद्ध, शरीर में बद्ध—वह बैल जोर से शब्द करता है; वह महान् देव मर्त्यों के अदर प्रविष्ट हुआ हुआ है*।"

क्योकि "घृतम्" अर्थात् मनोवृत्ति का वह निर्मल प्रकाश जो सत्य को प्रतिबिंबित करता है, पणियो द्वारा, निम्न ऐन्द्रियिक क्रिया के अधिपतियो द्वारा, छिपा लिया गया है और अवचेतन के अंदर बंद कर दिया गया है; हमारे विचारो में, हमारी इच्छाओ में, हमारी भौतिक चेतना में, तीनो स्थानो में, प्रकाश और आनद स्थापित किये हुए है, पर वे हमसे छिपा लिये गये है। देवता गौ के अदर, जो गौ ऊपर से आनेवाले प्रकाश का प्रतीक है, इस 'घृतम्' की शुद्ध धाराओ को पाते है†। ये धाराए, ऋषि कहता है, वस्तुओ के हृदय से, अवचेतन के समुद्र से, हृद्यात् समुद्रात्, उठती है, पर उन्हें शत्रु वृत्र ने सैकड़ो बाडों में घेर लिया है, ताकि वे विवेक की आख से बची रहें, उस ज्ञान से बची रहें जो ज्ञान हमारे अदर उसे प्रकाशित कर देने का यत्न करता है जो कि अप्रकाशित छिपा पड़ा है, और उसे मुक्त कर देना चाहता है जो कि बद पड़ा है‡। आशु-गामिनी होकर भी घनीभूत हुई हुई, वातमय क्रिया से सीमित हुई हुई, प्राण-शक्ति वायु की छोटी छोटी रचनाओ में परिणत होती हुई, वातप्रमिय, ये धाराएं मार्ग में अवचेतन की सीमाओ पर चलती है। सचेतन हृदय और मन की अनुभूतियो द्वारा उत्तरोत्तर पवित्र की जाती हुई ये प्रकृति की शक्तियां अत में दिव्य सकल्प रूप अग्नि के साथ परि-णय के योग्य हो जाती है, जो अग्नि उनकी सीमाओ को तोड गिराता है और स्वय उनको उन लहरो से जो अब प्रचुर हो गयी है पोषित किया

---

*चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥४ ५८.३

†त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥४ ५८ ४

‡एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा नावचक्षे॥४.५८.५

जाता है§। यह है जीवन की क्रांति जिससे कि मर्त्य प्रकृति अमरता में परिणत होने की तैयारी करती है।

सूक्त की अंतिम ऋचा में वामदेव सारी सत्ता को इस रूप में वर्णित करता है कि वह ऊपर दिव्य पुरुष के धाम में, नीचे अवचेतन के समुद्र में तथा जीवन में, धामन् ते अन्त समुद्रे हृदि अन्तरायुषि, अधिश्रित है। तो सचेतन मन ही वह प्रणाली है, वह मध्यवर्त्ती साधन है, जिसके द्वारा ऊर्ध्वसमुद्र और अध समुद्र में, अतिचेतन और अवचेतन में, दिव्य प्रकाश और प्रकृति के प्रारभिक अधकार में परस्पर सबध स्थापित होता है।

वायु है जीवन का देवता। प्राचीन रहस्यवादी ऋषि जीवनतत्त्व को यह समझते थे कि वह एक महान् शक्ति है जो सारी भौतिक सत्ता में व्यापक है और इसकी सब चेष्टाओ का कारण है। यही विचार है जो पीछे जाकर प्राण, जगद्व्यापक जीवन-श्वास, के स्वरूप में परिणत हो गया। मनुष्य की सारी जीवनसूचक या वातजन्य चेष्टाए प्राण की परिभाषा के अदर आ जाती है और ये वायु के साम्राज्यक्षेत्र से सबधित हैं। तो भी औरो की तुलना में ऋग्वेद में इस महान् देवता के सूक्त थोडे से ही है और उन सूक्तो तक में जिनमें कि इसका मुख्य रूप से आवाहन किया गया है यह प्राय अकेला नहीं किंतु अन्यो के साथ में आया है, और वह भी इस तरह कि यह उनके आश्रित है। विशेषतया वह 'इन्द्र' के साथ जोडा गया है और यह भी प्राय देखने में आवेगा कि मानो वैदिक ऋषि उससे जो कार्य लेना चाहते थे उसमें उसे (वायु को) उस उच्चतर देव की (इन्द्र की) सहायता अपेक्षित होती थी। जब

---

§सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य (मृगा इव क्षिपणोरीषमाणा) ॥४ ५८ ६
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमिय पतयन्ति यह्वा ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभि पिन्वमान ॥४ ५८.७

मनुष्य के अदर जीवन-शक्तियो की दिव्यक्रिया का प्रश्न होता है तब वायु, का स्थान वैदिक अश्व या दधिक्रावा के रूप में प्राय अग्नि ले लेता है।

यदि हम ऋषियो के आधारभूत विचारो को देखें तो वायु की यह स्थिति स्पष्ट समझ आ जाती है। उच्च सत्ता के द्वारा निम्न सत्ता का, दिव्य के द्वारा मर्त्य का, प्रकाशित होना उनका मुख्य विचार था। प्रकाश और शक्ति, गौ और अश्व ये यज्ञ के उद्दिष्ट पदार्थ थे। शक्ति थी आवश्यक शर्त, प्रकाश था मुक्त करानेवाला तत्त्व; और 'इन्द्र' तथा 'सूर्य' उस प्रकाश के मुख्य लानेवाले थे। इसके अतिरिक्त, वह अपेक्षित शक्ति दिव्य सकल्प रूप था जो सब मानवीय शक्तियो पर अधिकार कर लेता और अपने आपको उनमें प्रकट कर देता था; और इस सकल्प का, वातमय प्राणशक्ति पर अधिकार कर लेने और अपने आपको उसमें प्रकट कर देनेवाले सचेतन बल की इस शक्ति का, प्रतीक 'वायु' से बढकर अग्नि था और विशेषकर दधिक्रावा अग्नि। क्योकि अग्नि ही है जो तपस् का, अपनेको जगद्व्यापक शक्ति के रूप में व्यवस्थित करनेवाली दिव्य चेतना का, अधिपति है, प्राण उसका केवल निम्न सत्ता में रहनेवाला एक प्रतिनिधि है। इसलिये वामदेव के चतुर्थ मण्डल के ५८वे सूक्त में इन्द्र, सूर्य और अग्नि ही है जो कि अवचेतन के अदर से सचेतन दिव्यता की महती अभिव्यक्ति को करनेवाले है। वात या वायु, प्राणसबंधी क्रिया, मन की, उद्भूत होते हुए मन की केवल एक प्रथम शर्त्त है। और मनुष्य के लिये वायु का महत्त्वपूर्ण कार्य है यह कि प्राण का मन के साथ मिलन हो और वह प्राण मन के उद्भव में, विकास में सहायता प्रदान करे। यह कारण है कि हम, इन्द्र जो कि मन का अधिपति है, और वायु, जो कि प्राण का अधिपति है, को इकट्ठा जुडा हुआ और वायु को कुछ अशो में इन्द्र के आश्रित हुआ पाते है, मरुत, विचार-शक्तियां, यद्यपि मूलत. वे जितनी इन्द्र की शक्तिया प्रतीत होते है उतनी ही वायु की भी, तो भी ऋषियो के लिये वे स्वय वायु की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है और वे अपने क्रियाशील स्वरूप में भी वायवीय सेनाओ के इस प्राकृतिक मुखिया

(वायु देवता) की अपेक्षा अग्नि रुद्र के साथ कहीं अधिक निकटता से संबधित है।

यह प्रस्तुत, चतुर्थ मण्डल का ४८वा, सूक्त उन तीन में अतिम है, जिनमें वामदेव सोम-रस को पीने के लिये इन्द्र और वायु का आवाहन कर रहा है। वे सम्मिलित रूप से प्रकाशमान शक्ति के दो देवताओ, शवसस्पती*, के रूप में पुकारे गये हैं, जैसे कि इससे पूर्व के मण्डल में आनेवाले एक अन्य सूक्त (१२३.३) में उन्हें विचार के देवता, धियस्पती, के तौर पर आवाहन किया गया है। इन्द्र है मानसिक शक्ति का देवता, वायु है वातिक या प्राणसबधी शक्ति का, और उन दोनो का सम्मिलन विचार के लिये तथा क्रिया के लिये आवश्यक है। उन्हें आमत्रित किया गया है कि वे एक ही रथ में चढकर आवे और मिलकर उस आनद के रस का पान करें जो अपने साथ देवत्व प्रदान करनेवाली शक्तियो को लाता है†। वायु, कहा गया है कि, प्रथम घूट को पीने का अधिकारी है‡, क्योकि विचारक प्राणशक्तिया ही है जिन्हें अवश्य सर्वप्रथम दिव्य क्रिया के आनद को ग्रहण करने योग्य हो जाना चाहिये।

इस तीसरे सूक्त में, जिसमें कि यज्ञ का परिणाम वर्णित किया गया है, वायु अकेला आवाहन किया गया है§, पर इस अवस्था में भी इन्द्र के साथ उसकी सहचारिता स्पष्टतया दर्शा दी गयी है। उसे कहा गया है कि वह सुखमय प्रकाश के रथ में चढकर, जैसे कि एक दूसरे सूक्त में यही उषा को कहा गया है, अमृतकारक रस को पीने के लिये आवे¶। रथ प्रतीक है शक्ति की गति का और यह है पहले से ही प्रकाशमान

*४.४७.३

†दिविष्टिषु

‡४.४६.१

§इससे पहले के दोनों सूक्तो ४६, ४७ के देवता 'इन्द्रवायू' सम्मिलित हैं।

¶वायो आ चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये।

प्राणशक्तियो की प्रसन्न गति जिसे वायु के रूप में आवाहन किया गया है। इस प्रकाशमान सुखमय गति की दिव्य उपयोगिता प्रथम तीन ऋचाओ में बतलायी गयी है।

इस देव को अभिव्यक्ति करनी है—उसे उन यज्ञिय शक्तियो को जो कि अब तक अभिव्यक्त नहीं हुई है, अब तक अवचेतन के अधकार में छिपी पडी है, सचेतन क्रिया के प्रकाश में लाना है*। कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार वाक्य का यह अनुवाद किया जा सकता है, "उन हवियों का तू भक्षण कर जो अभक्षित पडी है", या 'वी' धातु का दूसरा अर्थ 'पहुंचना' ले तो अर्थ कर सकते है, "उन यज्ञिय शक्तियो के पास तू पहुच जिनके पास नहीं पहुचा गया है"; पर प्रतीक रूप में इन सब अनुवादो का निष्कर्ष वही आध्यात्मिक अर्थ निकलता है। शक्तियो और क्रियाओ को, जिन्हें अब तक अवचेतन के अदर से बाहर नहीं निकाला गया है, इन्द्र तथा वायु की सम्मिलित क्रिया के द्वारा उस गहन गुफा के भीतर से मुक्त कराना है और फिर उन्हे कर्म में विनियुक्त कराना है।

क्योकि यह प्राणमय मनोवृत्ति की सामान्य क्रिया नहीं है जिसके प्रति उन्हें बुलाया गया है। वायु को इन शक्तियो को इस रूप से अभिव्यक्त करना है जैसे कि वह "कोई परमानद का अभिव्यञ्जक, कोई आर्य कर्म का कर्ता" हो, विपो न रायो अर्य। ये शब्द पर्याप्त रूप से उन शक्तियो का स्वरूप दर्शा देते है जिन्हे उद्‌बुद्ध किया जाना है। तो भी यह सभव है कि यह वाक्य गूढ रूप से इन्द्र की तरफ सकेत करता हो† और इस प्रकार यह दर्शाता हो, जो कि बाद में स्पष्ट तौर पर ही व्यक्त हो गया है, कि यह आवश्यक है कि वायु की क्रिया उस अधिक प्रकाशमान

*विहि होत्रा अवीता।

†'विपो न रायो अर्य' इस वाक्याश का यदि यह अनुवाद करें "आनंद का अभिव्यञ्जक जो अर्य (इन्द्र) है उसकी तरह" तू भी।

देव (इन्द्र) की प्रकाशपूर्ण और अभीप्सायुक्त शक्ति से नियन्त्रित हो। क्योंकि यह इन्द्र का ही प्रकाश है जो कि परम आनद के प्रकट होने के रहस्य को प्राप्त करा देता है और वह (इन्द्र) इस महान् कार्य में सर्वप्रथम प्रयास करनेवाला है। देवो में से इन्द्र, अग्नि और सूर्य के लिये ही विशेषतः 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, एक ऐसी गहनार्थता को अपने अदर रखता हुआ जो कि शब्दानुवाद में प्रकट नहीं की जा सकती यह 'अर्य' शब्द उन्हें सूचित करता है जो कि उच्च अभीप्सा के लिये उद्यत होते है और जो भद्र तथा आनद को पाने के लिये एक हवि प्रदान के रूप में महान् यत्न करते है।

दूसरी ऋचा में इन्द्र की पथप्रदर्शिता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से पुष्ट कर दी गयी है। वायु को उन सब नकारों को जो कि अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति के विरोध में हो सकते है परे हटाते हुए आना है, निर्युवाणो अशस्ती। 'अशस्ती' का शाब्दिक अर्थ है 'अभिव्यक्तियो का न होना' और इससे प्रकट होता है आच्छादक शक्तियो, जैसे वृत्र, द्वारा उन प्रकाश और शक्ति का निरोध कर लिया जाना जो कि देवों के प्रभाव द्वारा और शब्द के कर्तृत्व द्वारा अभिव्यक्ति में आने को तैयार पड़े हैं, प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे है। शब्द है वह शक्ति जो कि अभिव्यक्त करती है, शस्त्रम्, गी, वाच। परतु इस बात की आवश्यकता होती है कि दिव्य शक्तियो द्वारा शब्द की रक्षा की जाय और इसे इसका उचित कर्तृत्व प्रदान किया जाय। यह कार्य वायु को करना है, उसे नकारों की, बाधाओ की, अनभिव्यक्ति की सब शक्तियो को बाहर निकाल देना है। इस कार्य को करने के लिये 'नियुत' घोड़ों सहित और इन्द्र को सारथिरूप में लेकर, नियुत्वान् इन्द्रसारथि, उसे अवश्यमेव पहुचना है। इन्द्र के, वायु के, सूर्य के तीनो के घोड़ों के अपने अपने यथोचित नाम हैं। इन्द्र के घोड़े हैं हरि या बभ्रु अर्थात् अरुणवर्ण के या भूरे, सूर्य के हरित, जिससे अपेक्षाकृत अधिक गहरा, पूर्ण और घना चमकीलापन सूचित होता है; वायु के नियुत हैं अर्थात् नियुक्त होनेवाले घोड़े क्योकि वे उन क्रियावान् गतियों के द्योतक है जो शक्ति को उसकी क्रिया में नियुक्त कर देती है। पर यद्यपि

हैं तो वे वायु के घोडे, पर हाके जाते हैं इन्द्र से अर्थात् वातमय और प्राणमय शक्ति के देव की गतिया मन के देव के द्वारा परिचालित होती हैं।

तीसरी ऋचा* पहले पहल कुछ ऐसी लगती है कि इसमें एक असबद्ध सा विचार चल पड़ा, इसमें अधकारावृत और सब रूपो को अपने अदर रखनेवाले द्यावापृथिवी का वर्णन है जो अपने प्रयत्न में वायु की गतियो के आज्ञानुवर्ती होते हैं या उनका अनुसरण करते हैं, जो वायु इन्द्र से हाके जानेवाले रथ पर बैठा है। उनका यहां नामोल्लेख नहीं किया गया है पर इस रूप में वर्णन है कि कोई दो हैं जो काले या अधकारावृत है और वसु या ऐश्वर्य को अपने अदर रखे हुए, वसुधिती, हैं, परतु 'वसुधिती' शब्द के प्रयोग से पर्याप्त स्पष्ट तौर पर यह पता चल जाता है कि यह पृथिवी (वसुधा) है और क्योकि द्विवचनात प्रयोग है इसलिये उसके साथ उसका सहचर द्यौ भी आ जाता है। यह हमें ध्यान में ले आना चाहिये कि यहा जिनका उल्लेख है वे पिता द्यौ और माता पृथिवी नहीं है, परतु दो बहिनें, रोदसी, द्यौ व पृथिवी के स्त्री-रूप, हैं जो कि मानसिक तथा भौतिक चेतना की सामान्य शक्तियो की प्रतीक है। यह उनकी अंधकारमय अवस्थाए—मानसिक और भौतिक इन अपनी दो सीमाओ के बीच की अधकारावृत चेतना—है जो वातमय क्रिया-शीलता की प्रसन्न गति द्वारा वायु की गति के अनुसार या वायु के नियन्त्रण के नीचे यत्न करने लगती हैं और अपने छिपे पड़े रूपो को व्यक्त करने लग पड़ती है, क्योकि सभी रूप उनके अदर छिपे पड़े है और अवश्य ही उन्हें उनको व्यक्त करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये। इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि यह ऋचा अपनी पूर्ववर्ती दो ऋचाओ के भाव को पूर्ण करनेवाली ही है। क्योकि सदा ही जब वेद को समुचित रूप में समझ लिया जाता है तो इसकी ऋचाए एक गभीर युक्तियुक्त संगति के साथ और अर्थपूर्ण क्रम के साथ विचार को खोलती हुई दिखलायी देती है।

---

*अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।

अवशिष्ट दो ऋचाए वर्णन करती है उस परिणाम को जो द्यौ और पृथिवी की इस क्रिया से, और जब वायु का रथ द्रुत वेग से आनद की ओर दौडता है उस समय की वायु की गति पर जो वे (द्यावापृथिवी) छिपे पडे रूपों को और अनभिव्यक्त शक्तियों को व्यक्त करने लग पडते है उससे जनित होता है। सर्वप्रथम उसके घोडो को अपनी सामान्यतया पूर्ण सरल सख्या को पा लेना है। "निन्यानवे घोडे, जो मन द्वारा जोते जाते हैं, नियुक्त किये जाय और वे तुझे वहन करें*।" बार बार आनेवाली निन्यानवे, सौ और हजार की सख्याए वेद में एक प्रतीकात्मक अर्थ को रखती है, जिसे ठीक ठीक रूप से खोल सकना बड़ा कठिन है। रहस्य सभवत यह है कि सात की रहस्यपूर्ण सख्या को उसी से गुणन करके जो उनचास की सख्या आती है उसे दुगना करके और उसके शुरू में और अत में एक की संख्या जोडने से सौ की सख्या बनती है, १+४९+४९+१=१००। सात हैं अभिव्यक्त प्रकृति के मुख्य तत्त्वों की सख्या, दिव्य चेतना के सात रूप जो कि विश्व-लीला में कार्य करते हैं। प्रत्येक पृथक् पृथक् लिया जाय तो अपने अदर बाकी छहो को रखता है, इस प्रकार पूर्ण सख्या ७×७ अर्थात् ४९ हो जाती है, और इसमें वह ऊपर की एक की सख्या और जोड दी जाती है जिसमेंसे सब कुछ विकसित होता है, तो सब मिलाकर पचास का प्रमाण (scale) हो जाता है जो कि सक्रिय चेतना का पूर्ण पैमाना बनता है। पर साथ ही आरोह और अवरोह की शृखला से इस (एक के साथ जुडनेवाली ४९ की सख्या) का द्विगुणीकरण भी होता है, अवरोह देवों का, आरोह मनुष्य का। इससे निन्यानवे (१+४९+४९) की सख्या बनती है जो वेद में विविध रूप में घोडों, नगरो, नदियो के लिये, प्रत्येक स्थिति में एक जुदा किंतु सजातीय प्रतीकवाद को लिये हुए, प्रयुक्त की गयी है। यदि हम नीचे एक की उस अधकारावृत सख्या, जिसके अदर सब कुछ अवरोहण करके आता है, को ऊपर उस

---

*वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।

प्रकाशमय सख्या के साथ, जिसकी तरफ सब आरोहण करके जाता है, और जोड़ दें तो एक सौ का पूरा प्रमाण (scale) बन जाता है।

इसलिये यह है चेतना की एक सम्मिश्र (न कि सरल) शक्ति जो कि वायु की गति के परिणामरूप उत्पन्न होती है, यह है उस मानसिक क्रिया की पूर्णतम गति का उद्भव हो जाना, जो कि मानसिक क्रिया अभी मनुष्य के अदर केवल निगूढ़ और सभव की अवस्था में है,—मन द्वारा जोते जानेवाले निन्यानवे घोडो का नियुक्त किया जाना। और अगली ऋचा में ऊपरवाली अतिम एक की सख्या जोड़ दी गयी है। वहा हम सौ घोडे देखते है, और क्योकि क्रिया अब पूर्ण प्रकाशमान मनोवृत्ति की हो गयी है इसलिये ये घोडे, यद्यपि वे अब भी वायु और इन्द्र को वहन करते है, अब केवल 'नियुत' नहीं रहे किंतु 'हरि' हो गये है, जो कि इन्द्र के चमकदार घोडो का रग है। "ओ वायु, तू सौ चमकीले घोडो को नियुक्त कर, जो कि पोष्य है, जिनको बढाया जाना है†।"

पर 'पोष्य' क्यो है, बढ़ाये जाने योग्य क्यों है? क्योकि सौ तो विविध-तया सयुक्त गतियो की सरल पूर्णता को ही सूचित करता है, पर उनकी पूरी सम्मिश्ररूपता को नही। सौ में से प्रत्येक को दस से गुणित किया जा सकता है, सब अपने निज निज प्रकार से वर्धित या पोषित किये जा सकते है, क्योकि 'पोष्याणाम्' शब्द से जो वृद्धि सूचित होती है वह इसी स्वरूप की है। इसलिये ऋषि कहता है कि या तो तू सौ की सरल पूर्णता के साथ आ जो कि बाद में बढकर दशगुणित सौ अर्थात् हजार की पूर्ण सम्मिश्ररूपता को प्राप्त हो जायगी, या यदि तेरी इच्छा हो तो एक-दम हजार के साथ आ जा और अपनी गति को इसकी सपूर्ण सभावित शक्ति के पूरे वेग में आ जाने दे‡। जिसे वह चाह रहा है वह है पूर्णत वैविध्ययुक्त, सबको अपनी परिधि में ले लेनेवाला, सबको शक्ति प्रदान

---

†वायो शत हरीणा युवस्व पोष्याणाम्।

‡उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा।

करनेवाला मानसिक प्रकाश जो सत्ता, शक्ति, सुख, ज्ञान, मनोवृत्ति, प्राण-शक्ति, भौतिक क्रियाशीलता की अपनी पूर्ण उन्नति से युक्त है। क्योंकि यदि यह प्राप्त हो जाय तो अवचेतन बाध्य हो जाता है कि वह पूर्णता-प्राप्त मन की इच्छा पर अपने सब छिपे पड़े हुए संभाव्य रूपों को मुक्त कर देवे ताकि पूर्णताप्राप्त जीवन (प्राण) की समृद्ध और प्रचुरतापूर्ण गति हो सके।

नवा अध्याय

वृहस्पति, आत्मा की शक्ति

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ५०

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् वृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
त प्रत्नास ऋषयो दीध्याना. पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥१॥

(य वृहस्पति) जिस वृहस्पति ने (त्रिषधस्थ) हमारी परिपूर्णता के त्रिविध लोक में स्थित होकर (रवेण) आवाज द्वारा (सहसा) अपनी शक्ति से (ज्म. अन्तान्) पृथिवी के अतो को (वि तस्तम्भ) थाम दिया है (तम्) उसपर (प्रत्नास ऋषय) प्राचीन ऋषियो ने (दीध्याना) ध्यान लगाया था और (विप्रा) प्रकाशपूर्ण होकर (मन्द्रजिह्वम्) आनदमयी जिह्वावाले उसको (पुर. दधिरे) उन्होंने अपने आगे निहित किया था ॥१॥

धुनेतय सुप्रकेत मदन्तो वृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्त सृप्रमदब्धमूर्वं वृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥२॥

(वृहस्पते) हे वृहस्पति! (धुनेतय) अपनी गति के अन्तर्वेग के कपनो से कपित होते हुए (सुप्रकेत मदन्त) पूर्णताप्राप्त चेतना में आनद लेते हुए (ये) जिन्होने अर्थात् उन ऋषियो ने (पृषन्तम्) प्रचुर (सृप्रम्) तीव्र (अदब्धम्) अजय्य (ऊर्वं) विशाल (योनिम्) उस लोक को जिसमेंसे कि यह सत्ता पैदा हुई थी (न अभि ततस्रे) हमारे लिये बुन दिया है। (वृहस्पते) हे वृहस्पति! (अस्य रक्षतात्) उसकी तू रक्षा कर ॥२॥

वृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदु।
तुभ्य खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्व श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥३॥

(वृहस्पते) हे वृहस्पति! (या परमा परावत्) जो सर्वोच्च परम सत्ता है उसे (अत) यहां से, इस लोक से (ते ऋतस्पृश) वे जो सत्य-स्पर्शी हैं (आ) प्राप्त करते हैं और (निषेदु) उसमें निषण्ण हो जाते

है। (तुभ्य अवता· खाता) तेरे लिये [शहद के] कुए खुदे हुए है (अद्रिदुग्धा) जो इस पहाड़ी में से रिस रहे है, और (मध्व) उनके मधुर रस (अभित विरप्श श्चोतन्ति) निकलकर चारो तरफ उमड उमडकर बह रहे हैं ।।३।।

बृहस्पति प्रथम जायमानो महो ज्योतिष परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमासि ।।४।।

(बृहस्पति) बृहस्पति (महो ज्योतिष) विपुल ज्योति में से, (परमे व्योमन्) सर्वोच्च द्यौ लोक में, (प्रथम जायमान) सर्वप्रथम प्रादुर्भूत होता हुआ, (सप्तास्य) जो सात मुखोवाला है (सप्तरश्मि) सात किरणोवाला है (तुविजात) बहुत से जन्मोवाला है, (रवेण) अपनी आवाज से (तमासि) उन अधकारो को जो हमें घेरे हुए है (वि अधमत्) पूर्णतया दूर कर देता है ।।४।।

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूद कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ।।५।।

(स) उस बृहस्पति ने (सुष्टुभा गणेन) स्तुति करनेवाले स्वरताल के गण से, (स ऋक्वता गणेन) उसने प्रकाशमान गीतो के गण से (रवेण) आवाज के साथ (वल फलिग रुरोज) 'वल' के टुकडे टुकडे कर दिये। (बृहस्पति हव्यसूद उस्रिया उदाजत्) बृहस्पति उन प्रकाशवती [गौओ] को जो कि हमारी हवियो को प्रेरणा देती है ऊपर हाक ले जाता है, (कनिक्रदत्) जब वह उनको ले जा रहा होता है तब वह जोर से गर्जता है, (वावशती) उन गौओ को जो रभाकर उसका प्रत्युत्तर देती है ।।५।।

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भि ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वय स्याम पतयो रयीणाम् ।।६।।

(एव) इस प्रकार (पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे) उस पिता, सार्वभौम देव, वृषा [वृषभ] के लिये, (यज्ञै. नमसा हविर्भि) यज्ञो से, नमन से, हवियो से (विधेम) आओ, हम समर्पण करें। (बृहस्पते) हे बृहस्पति, (वीरवन्त) वीरता से अनुप्राणित, और (सुप्रजा) सततियो से समृद्ध होते हुए (वय रयीणा पतय. स्याम) हम आनदों के अधिपति हो जावें ।।६।।

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
वृहस्पतिं य सुभृत विभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् ॥७॥

(स इद् राजा) निश्चय ही वह राजा है (शुष्मेण वीर्येण) अपनी शक्ति से, अपनी वीरता से (विश्वा प्रतिजन्यानि अभितस्थौ) लोको के अदर जो भी मुकाबिला करनेवाले है उन सबको परास्त कर देता है, (य वृहस्पतिं सुभृत बिभर्ति) जो वृहस्पति को अपने अदर सुभृत रूप में धारण कर लेता है और (वल्गूयति) आनद में नाचने लगता है (वन्दते पूर्वभाजम्) और अपने आनदोपभोग के प्रथम फलो को उसे अर्पित करता हुआ उसकी वन्दना करता है ॥७॥

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विश॰ स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥८॥

(स इत् सुधित) हां, वह सुस्थित होकर (स्वे ओकसि क्षेति) अपने निजी घर में निवास करता है, (तस्मै इळा विश्वदानीं पिन्वते) उसके लिए इडा हर समय वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। (तस्मै विश॰ स्वयमेव नमन्ते) उसके प्रति सब प्रजाए स्वयमेव नत हो जाती है (यस्मिन् राजनि) जो राजा है और जिसके अदर (ब्रह्मा) आत्मा की शक्ति (पूर्व॰ एति) आगे आगे चलती है ॥८॥

अप्रतीतो जयति स धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिव कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवा ॥९॥

(अप्रतीत) वह अनाक्रान्त रहता है (धनानि सजयति) सब धनो को पूर्णतया जीत लेता है जो कि (प्रतिजन्यानि) उन लोको के है जो उसके सम्मुख होते है (उत या सजन्या) और जो उस लोक के है जिसमें वह रहता है; (अवस्यवे ब्रह्मणे) अपनी अभिव्यक्ति को चाहनेवाली आत्म-शक्ति के लिये (य॰ वरिव कृणोति) जो अपने अदर सर्वोच्च भद्र को रचता है (तं देवा अवन्ति) उसकी देव पालना करते है ॥९॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं वृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दव स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥१०॥

(बृहस्पते इन्द्रश्च) हे बृहस्पति ! तू और इन्द्र (सोम पिवतम्) सोमरस को पिओ, (अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना) इस यज्ञ में आनद लेते हुए, (वृषण्वसू) ऐश्वर्य को बरसाते हुए। (इन्दव. वा आविशन्तु) इस सोमरस के आनद की शक्तिया तुम्हारे अदर प्रविष्ट हों, और वे (स्वाभुव) अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो, (अस्मे सर्ववीर रयिं नियच्छतम्) हमारे अदर उस आनद को जो सब प्रकार की शक्ति से परिपूर्ण है, नियन्त्रित कर दो ॥१०॥

बृहस्पत इन्द्र वर्धत न सचा सा वा सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्ट धियो जिगृतं पुरधीर्जजस्तमर्यो वनुषामराती ॥११॥

(बृहस्पते इन्द्र) हे बृहस्पति ! हे इन्द्र ! (वर्धत न सचा) तुम दोनो एक साथ हमारे अदर वृद्धि को प्राप्त होओ (सा वा सुमति) वह तुम दोनों की सुमति—मन की परिपूर्णता (अस्मे भूतु) हमारे अंदर विरचित हो जाय; (धिय अविष्टम्) विचारों की पालना करो (पुरन्धीः जिगृतम्) मन को बहुविध शक्तियो को प्रकट कर दो, (अराती) सब दरिद्रताओ को (अर्यः वनुषाम्) जो कि उन द्वारा लायी जाती है जो आर्यों को जीतकर अपने वश में कर लेना चाहते है (जजस्तम्) विनष्ट कर दो ॥११॥

भाष्य

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मा ये तीन नाम उस देव के है जिसे संबोधित करके ऋषि वामदेव ने यह रहस्यमय स्तुति-गीत गाया है। बाद की पौराणिक देववशावली में बृहस्पति और ब्रह्मा अलग-अलग देवता हो गये है। ब्रह्मा है स्रष्टा, जो कि उन तीन देवों में से एक है जो मिलकर पौराणिक देवत्रयी को बनाते है; बृहस्पति वहां कोई बहुत महत्त्व का देवता नहीं रह गया है, वह देवो का आचार्य है और प्रसगत बृहस्पति नामक ग्रह का सरक्षक है, ब्रह्मणस्पति जो कि बृहस्पति और ब्रह्मा दोनों को जोडनेवाली बीच की कडी था, विलुप्त ही हो गया है। इन वैदिक देवो के स्वरूप का पुनरुद्धार करने के लिये हमें फिर से उस शृखला को जोडना होगा जो कि टूट चुकी है और इन दोनो नामों के परस्पर वियो-

जित हो जाने से गलत हुए मूल्यो को मूलभूत वैदिक विचार के प्रकाश में ठीक करना होगा।

'ब्रह्मन्' वेद में सामान्यत 'वैदिक शब्द' या 'मत्र' का वाची है–'वैदिक शब्द' गभीरतम अर्थ में, अर्थात् आत्मा की या सत्ता की गहराइयों के अदर से उठता हुआ मत.प्रेरणा का शब्द। यह एक तालवद्ध शब्द ही है जिस ने लोकों को सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है या अभिव्यजन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है। सचेतन सत्ता जब अपनी वस्तुओ को अपने अदर अपने आप ही, त्मना, प्रकाशमान रूप में व्यक्त कर रही होती है तब अतिचेतन (superconscient) होती है, जब अपनी वस्तुओ को धुधले रूप में अपने अदर छिपाये रखती है तब अवचेतन (subconscient) होती है। जो उच्चतर है, स्वत प्रकाशमान है, वह अस्पष्टता में, रात्रि में, अधकार से ढके अधकार, तम तमसा गूढम्, में उतरता है जहां कि चेतना के खडो में विभक्त होने के कारण से सब कुछ रूपरहित सत्ता के अदर छिपा पडा है, तुच्छयेनाभ्वपिहितम्। शब्द के द्वारा यह उस रात्रि के अंदर से निकलकर फिर ऊपर उठता है, चेतन में उसकी विशाल एकता को पुन विरचित करने के लिये, तन्महिना-अजायत-एकम्। यह विशाल सत्ता, यह सबको अपने अदर रखनेवाली, सबको सृजनेवाली चेतना 'ब्रह्म' है। यह आत्मा है जो मनुष्य के अदर अवचेतन के अदर से उद्भूत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर अतिचेतन की ओर जाती है। और सर्जक-शक्ति का शब्द जो कि आत्मा में से निकलकर ऊपर की तरफ जाता है वह भी 'ब्रह्मन्' है।

यह देव अपने आप को आत्मा की सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त करता है, शब्द के द्वारा अवचेतन के जलो में से लोको को रचता है–'अवचेतन के जल', जैसा कि महत्त्वपूर्ण सृष्टिसूक्त (ऋग्० १० १२९) में स्पष्ट रूप में इन्हें यह नाम दिया गया है, 'अप्रकेत सलिल सर्वम्–अचेतन समुद्र जो सब कुछ था'। इस देव की यही शक्ति 'ब्रह्म' है, इस 'ब्रह्म' नाम में जो बल है वह सचेतन आत्म-शक्ति पर ही अधिक पडता

है अपेक्षा उस शब्द के जो इस आत्म-शक्ति को प्रकट करता है। चेतन मानव-सत्ता के अदर भिन्न-भिन्न लोकस्तरो की अभिव्यक्ति होती होती अत में जहा तक पहुचती है वह है अतिचेतन की, सत्य और आनद की, अभिव्यक्ति और यह (अतिचेतन की) अभिव्यक्ति ही परम शब्द का या वेद का अधिकार है, विशेष कार्य है। इस परम शब्द का बृहस्पति अधिपति है, 'बृहस्पति' नाम में जो बल है वह शब्द की शक्ति पर अधिक पडता है अपेक्षाकृत उस सामान्य आत्म-शक्ति के विचार के जो कि इसके पीछे रहती है। बृहस्पति देवो को और मुख्यत· इन्द्र को जो कि 'मन' का अधिपति है, ज्ञान का शब्द, अतिचेतन का तालबद्ध शब्दाभिव्यजन, प्रदान करता है, जब कि वे (देव) मनुष्य के अदर महान् सिद्धि के लिये 'आर्य'-शक्तियो के रूप में कार्य करते है। यह आसानी से समझ में आ सकता है कि किस प्रकार इन दोनो देवो का विचार पौराणिक प्रतीक-वाद में आकर ब्रह्मा स्रष्टा तथा बृहस्पति सुराचार्य इस विशेष रूप में आ गया जहा इनका अर्थ यद्यपि कुछ विस्तृततर हो गया पर साथ ही कम सूक्ष्म और कम गभीर भी हो गया। 'ब्रह्मणस्पति' इस नाम में ये दोनो विभिन्न बल एक हो गये है और बराबर हो गये है। यह उसी एक देव के सामान्य और विशेष रूपो के बीच में उन्हें जोडनेवाला नाम है।

बृहस्पति वह है जिसने पृथिवी को अर्थात् भौतिक चेतना की सीमाओ और परिच्छिन्नताओ को दृढ़ता के साथ थाम लिया है। वह सत्ता जिसमें से सब रचनाए बनायी गयी है एक धुधली, तरल और अनिश्चयात्मक गति है,—'सलिलम्' अर्थात् 'पानी' है। प्रथम आवश्यकता यह है कि इस तरल, बहते हुए और अस्थिर में से एक कामलायक स्थायी रचना की जाय ताकि चेतन के जीवन के लिये एक आधार तैयार हो सके। यह काम बृहस्पति भौतिक चेतना तथा इसके लोक के निर्माण के रूप में करता है,—करता है शक्ति द्वारा, सहसा, अवचेतन के प्रतिरोध पर एक प्रकार का जबर्दस्त बल डालकर। इस महान् रचना को वह निष्पन्न करता है मन, प्राण, शरीर के त्रिगुणित लोक को दृढ स्थापित करके, जो मन,

प्राण, शरीर तीनों विश्वव्यापी कार्य तथा सिद्धि के इस जगत् में सदा इकट्ठे रहते हैं और एक दूसरे में समाविष्ट (निर्वर्त्तित) रहते हैं या एक दूसरे में से उद्भूत (विवर्तित) होते रहते हैं। ये तीनो मिलकर 'अग्नि' के त्रिगुणित स्थान (धाम) को बनाते हैं और वहा बैठकर वह परिपूर्णता या निष्पत्ति के उत्तरोत्तर कार्य को, जो कि यज्ञ का लक्ष्य है, सिद्ध करता है। बृहस्पति रचना करता है शब्द द्वारा, अपनी आवाज (पुकार) द्वारा, 'रवेण', क्योंकि शब्द आत्मा की उस समय की आवाज (पुकार) ही है जब कि वह सदा-नवीन बोधो और निर्माणो के लिये जागृत होता है। 'बृहस्पति ने शक्ति द्वारा पृथिवी के अतों को दृढ़ता के साथ थाम दिया, परिपूर्णता के त्रिगुणित धाम में स्थित होकर अपनी आवाज के द्वारा', य तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पति त्रिषधस्थो रवेण।

उस (बृहस्पति) पर, कहा गया है कि, पुरातन या प्राचीन ऋषियो ने ध्यान लगाया, ध्यान से वे मन में प्रकाशपूर्ण हो गये; प्रकाशपूर्ण होकर उन्होंने उसे अपने आगे निहित किया, आनंदमयी जिह्वावाले देवता, मन्द्रजिह्वम् के रूप में,—आनदमयी जिह्वा अर्थात् वह जिह्वा जो कि सोम के मदजनक रस, 'मद, मधु' का आनंद लेती है, मधुरता की उस लहर, मधुमान् ऊर्मि, का आनद लेती है जो कि सचेतन सत्ता के अदर छिपी पडी थी और धीरे धीरे क्रमश इसमें से निकालकर बाहर लायी गयी है*। पर प्रश्न यह है कि यह किन के विषय में कहा गया है ? क्या ये वे सात दिव्य ऋषि, ऋषयो दिव्या, हैं जो चेतना को उसके सातों स्तरों में से प्रत्येक में सिद्ध करके और उन स्तरो को इकट्ठा समस्वर करके जगत् के विकास का निरीक्षण किया करते हैं, अथवा ये वे मानव पितर, पितरो मनुष्या, हैं जिन्होंने सबसे पहले उच्च ज्ञान को खोजकर पाया था और मनुष्य के लिये सत्य-चेतना की असीमता को विरचित

*तं प्रत्नास ऋषयो दीध्याना' पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।

किया था? दोनों में से कोई भी क्यो न अभिप्रेत हो, पर सकेत अपेक्षाकृत मानव पितरों, पूर्वजो, द्वारा की गयी सत्य की विजय की ओर ही अधिक प्रतीत होता है। 'दीध्याना' शब्द के वेद में दोनो अर्थ होते है, एक तो चमकना, प्रकाशमान होना और दूसरा विचारना, ध्यान करना, विचार में केन्द्रित करना। इस शब्द का प्रयोग भी सतत रूप से द्वयर्थकतावाले वैदिक अद्भुत अलकार के साथ हुआ है। पहले अर्थ की दृष्टि से इसका सबध 'विप्रा' के साथ जुडता है, और भाव यह निकलता है कि ऋषि बृहस्पति की विजयशाली शक्ति के द्वारा विचार में अधिकाधिक प्रकाशमान (दीध्याना) होते चलते हैं और अत में जाकर वे विप्रा (प्रकाशपूर्ण) बन जाते है। दूसरे अर्थ में इसका सबंध 'दधिरे' के साथ होगा और भाव यह निकलेगा कि ऋषि उन अतर्ज्ञानों पर जो कि बृहस्पति की पवित्र और प्रकाशपूर्ण शब्दरूपी आवाज के द्वारा आत्मा में से ऊपर उठते है, ध्यान लगाकर, उन्हें विचार में दृढता के साथ थामकर (दीध्याना), मन में प्रकाशपूर्ण हो गये जो मन पराचेतन के पूर्ण अत प्रवाह के लिये खुला हुआ था। इस प्रकार वे आत्मा के विचारो की उस क्रियाशीलता को जो कि सदा पीछे रहकर, पर्दे से ढकी रहकर, काम करती है, सचेतन सत्ता के सम्मुख ले आने में और इसे अपने स्वभाव की मुख्य क्रिया बना लेने में समर्थ हो गये। परिणामत बृहस्पति उनके अदर सत्ता के आनद को, अमरता के रस को, परम-आनद को उनके लिये आस्वादन करने योग्य हो गया। नियत भौतिक चेतना का निर्माण पहली सीढी है, अतर्ज्ञान-युक्त आत्मा को अपनी सचेतन क्रियाओ के नेता के रूप में मन में आगे ले आने के द्वारा दिव्य आनंद के प्रति यह जागरण हो जाना सिद्धि-प्राप्ति है या कम से कम इस सिद्धि की शर्त है। (देखो, मत्र प्रथम)

परिणाम होता है मनुष्य के अदर सत्य-चेतना का निर्मित हो जाना। प्राक्तन ऋषियो ने गति के तीव्रतम कपनो को पा लिया है, चेतना के जल की सबसे अधिक पूर्ण और वेगवती धारा जो कि हमारी क्रिया-

शील, सत्ता की घटक होती है अब अधकाराच्छन्न नहीं रही है, जैसे कि अवचेतन के अदर थी, किंतु पूर्ण चेतना के उल्लास से भरपूर हो गयी है,— सृष्टिसूक्त (१०. १२९) में वर्णित समुद्र की तरह वह 'अप्रकेतम्' नहीं रही, किंतु 'सुप्रकेतम्' हो चुकी है। उन (प्राक्तन) ऋषियो का वर्णन इस प्रकार किया गया है 'घुनेतय सुप्रकेत मदन्त.'। मानवीय मनोवृत्ति के अदर अपने भरपूर प्रकाश और आनद से युक्त हुई हुई चेतना की क्रियाओं के इस वेग को प्राप्त करके उन्होंने मानवजाति के लिये इन वेग-युक्त, प्रकाशमय और उल्लासयुक्त वोघो के तंतुओ से सत्य-चेतना को, ऋत वृहत् को वुना है, जो कि इस सचेतन सत्ता का गर्भ या उत्पत्ति-स्थान है। क्योकि परावेतन में से ही निकलकर सत्ता अवचेतन के अदर अवतरित होती है और अपने साथ उसे लिये होती है जो कि यहां व्यक्तिगत मानव सत्ता, चेतन आत्मा, के रूप में उद्भूत हो जाता है। इस सत्य-चेतना की प्रकृति अपने आप में यह होती है कि यह अपने उत्सेचन में प्रचुर होती है, पृषन्तम्, या (इसका यह अर्थ हो सकता है) अपने समस्वरतायुक्त गुणों के वैविध्य की दृष्टि से वहुरूप होती है; अपनी गति में यह तीव्र होती है, मृप्रम्; उस प्रकाशपूर्ण तीव्रता के द्वारा यह उस सवपर विजय पा लेती है जो इसे परास्त करना या तोडना चाहता है, यह अदव्वम् होती है, सवसे वढकर यह कि यह विशाल, वृहत्, असीम होती है, ऊर्वम्। इन सव रूपो में यह पहली सीमित गति से उलटी है जो कि अवचेतन के अंदर से निकलती है, क्योंकि वह होती है परिमित और धूसर, मंद और निगड़ित, प्रतिद्वन्द्वी-शक्तियों के विरोध द्वारा आसानी से पराजित और नष्टभ्रष्ट हो जानेवाली, क्षेत्र की दृष्टि से अविस्तीर्ण तथा सीमित। पर मनुष्य के अंदर व्यक्त हुई हुई यह सत्य-चेतना न-माननेवाली शक्तियों के, वृत्रों के, 'वल' के, विद्रोह के कारण फिर उससे अधकाराच्छन्न हो सकती है। इसलिये ऋषि वृहस्पति से प्रार्थना कर रहा है कि तू अपनी आत्म-शक्ति की परिपूर्णता के द्वारा उस संभावित अधकाराच्छन्नता से मेरी रक्षा कर। (देखो, मत्र दूसरा)

यह सत्य-चेतना उस पराचेतन का मूल आधार है जिसका कि स्वरूप आनद है। यह पराचेतन का परम, परमा परावत्, ही है, उपनिषदो का परम परार्ध है, सच्चिदानद की सत्ता है जिसमें से मानव सत्ता अवतरित हुई है। इसी सर्वोच्च सत्ता की ओर वे, इस भौतिक चेतना से, अत, ऊपर उठ जाते है, जो पुरातन ऋषियो की तरह सत्य-चेतना के साथ सस्पर्श करते है, बृहस्पते या परमा परावत् अत आ ते ऋतस्पृशो नि षेदु। वे इसे अपना धाम और घर, क्षय, ओकस्, बना लेते हैं। क्योकि भौतिक सत्ता की पहाडी में आत्मा के लिये वे माधुर्य के लवालब भरे कुएँ खुदे हैं जो इस पहाडी की दारुण कठोरता के अंदर से छिपे पडे आनद को निकाल लाते है, सत्य का सस्पर्श होने पर शहद की नदिया, अमृत-रस के वेगयुक्त झरने, क्षरित होने और प्रवाहित होने लगते है और मानवीय चेतना के समस्त धरातल पर प्रचुरता की बाढ़ के रूप में फूट पडते है, तुभ्य खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्व श्चोतन्ति अभितो विरप्शम्। (देखो, मंत्र तीसरा)

इस प्रकार बृहस्पति, देवों में सर्वप्रथम, सत्य-चेतना के उस प्रकाश की बृहत्ता के अदर से, उच्च पराचेतन के उस सर्वोच्च दिव्य धाम में, 'महो ज्योतिष परमे व्योमन्', व्यक्त होकर अपने आपको हमारी चेतन सत्ता के पूर्ण सप्तविध रूप (सप्त-आस्य) में प्रकट करता है, स्थूल भौतिकता से लेकर विशुद्धतम आध्यात्मिकता तक क्रमवद्ध हुए अपने सातो लोकों की अत-क्रीडा के समस्त रूपो में अनेक प्रकार से पैदा (बहुजात) होकर, उनकी उस सप्तविध रश्मि से, जो कि हमारे सब उपरिस्तरो तथा समस्त गहन-स्तरो को प्रकाशित करती है, प्रकाशमान होकर प्रकट होता है और अपनी विजयशाली आवाज से रात्रि की सब शक्तियों को, अचेतन के समस्त आक्रमणो को, सब संभव अधकारो को निराकृत तथा छिन्न-भिन्न कर देता है। (देखो, मत्र चौथा)

शब्द की शक्तियो द्वारा, आत्म-शक्तियो के स्वरतालबद्ध गण द्वारा यह होता है कि बृहस्पति सबको अभिव्यक्त करता तथा उन सारे

अंधकारों को जो हमें घेरे हुए हैं, दूर करके रात्रि को समाप्त कर देता है। ये (गण) वेद के "ब्रह्मा" हैं जो कि शब्द से, 'ब्रह्म' या 'मन्त्र' से, आविष्ट या पूरित होते हैं, ये वे हैं जो यज्ञ में दिव्य 'ऋक्' को, 'स्तुभ्' या 'स्तोम' को द्यौ की तरफ उठाते हैं। 'ऋक्' जिसका सबध प्रकाश या चमकवाची 'अर्क' शब्द से है, वह शब्द है जो प्रकाशकारक चेतना में रहनेवाली सिद्धिदायक शक्ति समझा जाता है; 'स्तुभ्' वह शब्द है जो वह शक्ति समझा जाता है जो कि वस्तुओ के नियमित स्वर-ताल के अदर स्तुति करती तथा दृढीकरण करती है। वह जिसे कि व्यक्त होना है चेतना में साधित, स्तुत और अततोगत्वा शब्द की शक्ति द्वारा दृढीकृत होता है। 'ब्रह्मा' गण या ब्राह्मण-शक्तिया शब्द के पुरोहित है, दिव्य स्वरताल द्वारा रचना करनेवाले हैं। उन्हीं की आवाज द्वारा बृहस्पति 'वल' को टुकडे-टुकडे कर देता है।

जैसे वृत्र वह शत्रु, वह दस्यु, है जो कि चेतन सत्ता के सप्तविध जलो के प्रवाह को रोक लेता है—अचेतन का मूर्त रूप है, वैसे ही वल वह शत्रु, वह दस्यु, है जो अपने बिल, अपनी गुफा (विलम्, गुहा) में प्रकाश की गौओ को रोक लेता है, वह अवचेतन का मूर्त रूप है। वल अपने आप में अधकारपूर्ण या अचेतन नहीं है, किंतु अधकार का कारण है। बल्कि अधिक ठीक तो यह है कि उसके अदर का पदार्थ प्रकाशवाला है, वल गोमन्तम्, वल गोवपुषम्, किंतु वह उस प्रकाश को अपने ही अदर रोक रखता है और इसकी सचेतन अभिव्यक्ति को नहीं होने देता। उसे तोड़कर टुकडे-टुकडे कर देना आवश्यक होता है, ताकि उसके अदर छिपी पड़ी हुई ज्योतिया मुक्त होकर बाहर आ सके। उनके छुटकारे को यहा इस तौर पर कहा गया है कि बृहस्पति उन ज्योतिष्मतियो को, उषा की गौओ को (उस्रिया) नीचे भौतिकता की पहाड़ी की गुफा में से छुडाकर बाहर निकाल लाता है और उन्हें ऊपर हमारी सत्ता की ऊचाइयों की तरफ हाक देता है जहा पर कि उनके साथ तथा उनकी सहायता से हम चढ़ जाते हैं। वह उन्हें पराचेतन ज्ञान की वाणी से पुकारता है; वे

सचेतन अतर्ज्ञान (conscious intuition) के प्रत्युत्तर के साथ उसका अनुसरण करती है। वे अपने गतिक्रम में क्रियाओ को अंतर्वेग प्रदान कर देती हैं जो क्रियाए यज्ञ की सामग्री का रूप धारण करती है और देवों को अर्पित की जानेवाली हविया बनती हैं और ये भी ऊपर ले जायी जाती रहती हैं जब तक कि वे उसी दिव्य लक्ष्य तक नहीं पहुच जातीं। (देखो, मंत्र पाचवा)

यह स्वत प्रकटनशील आत्मा, यह बृहस्पति, पुरुष हैं, सब वस्तुओ का पिता है; यह विश्वव्यापी देव है; यह वृषभ है, इन सब प्रकाशमय शक्तियो का अधिपति और जनक है जो विकसित (विवर्तित) हैं या अन्तर्निहित (निवर्तित) हैं, जो दिन में सक्रिय होती है या वस्तुओ की रात्रि में धुधले रूप से कार्य करती हैं, जिनसे कि यह सभूति या जगत्-सत्ता, 'भुवनम्', बनी है। बृहस्पति नाम से इसी पुरुष के प्रति ऋषि प्रवर्तित यज्ञ में हमसे हमारे जीवन (सत्ता) की सभी सामग्रियो को उत्सर्ग कराना चाह रहा है, उस यज्ञिय कर्म द्वारा जिसमें कि वे पूजा और समर्पण के साथ भेंट की गयी, स्वीकार की जाने योग्य हवियों के तौर पर उस सर्वात्मा के प्रति अर्पित कर दी जाती है। यज्ञ के द्वारा हम इस देव की कृपा से जीवन के सग्राम के लिये वीरोचित शक्ति से भरपूर हो जायगे, आत्मा की प्रजा में समृद्ध और उन आनदों के अधिपति हो जायगे जो आनद दिव्य प्रकाशमयता तथा सत्य क्रिया द्वारा अधिगत होते है। (देखो, मत्र छठा)

क्योकि आत्मा की शक्ति तथा अतिक्रामक शक्ति उस मनुष्य के अदर पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, जो मनुष्य कि अपने अदर इस सचेतन आत्म-शक्ति (बृहस्पति) को, जो कि प्रकृति में नेत्री-शक्ति के रूप में आगे लायी जा चुकी हो, धारण कर लेता है तथा दृढता के साथ धारण किये रखने में समर्थ होता है, जो मनुष्य कि इस द्वारा आन्तरिक गतियो की त्वरित तथा आनदपूर्ण गति तक पहुच जाता है, जैसे कि प्राचीन ऋषि पहुचा करते थे, अपने अदर प्राण के घोडे की उन जैसी समस्वरतायुक्त प्लुतगति और वल्गित (दुलक-चाल) को अधिगत कर लेता है, तथा सदैव

इस देव की, इसे सब परिणतियों तथा आनदभोगो के प्रथम फलो को अर्पित करता हुआ, पूजा करता है। उस शक्ति (आत्मा की शक्ति) द्वारा वह उसपर हावी हो जाता है और उस सबपर प्रभुत्व पा लेता है जो कि जन्मों में, लोकों में, चेतना के स्तरों में उसके सम्मुख आता है— चेतना के उन स्तरों में जो कि जीवन की प्रगति में उसके अनुभव के आगे खुल पडते है। वह राजा, सम्राट्, हो जाता है, अपनी जगत्परि-स्थितियो पर शासन करनेवाला हो जाता है। (देखो, मत्र सातवा)

क्योंकि ऐसा ही आत्मा अपने स्वकीय घर में, सत्य-चेतना में, असीम अखण्डता में, एक दृढस्थित सत्ता को प्राप्त करता है, और उसके लिये हर समय इडा, सर्वोच्च वाणी, सत्य-चेतना की मुख्य शक्ति, —वह इडा जो कि ज्ञान के अदर सीधी स्वतःप्रकाशयुक्त दृष्टि (revealing vision) के रूप में आती है, और उस ज्ञान के अदर क्रिया, परिणाम तथा अनुभूति का जो वस्तुगत सत्य है उसकी स्वतःस्फुरित अन्तःप्राप्ति बन जाती है— निरतर शरीर में तथा प्रचुरता में वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। उसके प्रति सब प्रजाए स्वयमेव नत हो जाती हैं, वे उसके अदर विद्यमान सत्य के वशवर्ती हो जाती हैं क्योंकि यह सत्य और उन प्रजाओ के अदर का सत्य एक ही होता है। क्योंकि सचेतन आत्म-शक्ति, जो कि विराट् रचयित्री तथा साधयित्री है, उसकी सब क्रियाओ में नेतृत्व करती है। यह (आत्म-शक्ति) उसे सब प्रजाओं के साथ उसके सबधों में सत्य का पथप्रदर्शन प्रदान करती है और इसलिये वह एक पूर्ण तथा स्वतःस्फूर्त सिद्धहस्तता के साथ उन (प्रजाओं) पर क्रिया करता है। यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्म-शक्ति, बृह-स्पति, ब्रह्मा, जो आध्यात्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक मत्री है, उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको इन्द्र, क्रिया का राज-देवता, अनुभव करता हुआ अपने आपपर तथा अपनी सब प्रजा पर उनके सम्मिलित सत्य के अधिकार से शासन करे। ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। (देखो, मत्र आठवा)

यह ब्रह्मा, यह रचनाशील आत्मा, अपने आपको मानव स्वभाव के राजत्व (राजापन) में व्यक्त करने तथा परिवर्द्धित करने का यत्न करता

है और वह मनुष्य जो कि प्रकाश तथा शक्ति के उस राजत्व (राजापन) को अधिगत कर लेता और अपने अदर ब्रह्मा के लिये उस सर्वोच्च मानवीय भद्र को रच लेता है, अपने आपको सदा उन सब दिव्य विराट् शक्तियो द्वारा समृद्ध, पालित तथा सर्वाद्धित पाता है जो शक्तिया परम सिद्धि-प्राप्ति के लिये कार्य करती हैं। वह आत्मा के उन सव धनो को जीत लेता है जो आत्मा के राजा हो जाने के लिये आवश्यक है, जो उसके निजी चेतना-स्तर से सबध रखते हैं और जो उसके सम्मुख दूसरे चेतना-स्तरो से आकर उपस्थित होते हैं। कोई भी उसकी विजयशालिनी प्रगति पर आघात या आक्रमण नहीं कर सकता। (देखो, मत्र नवा)

इन्द्र और बृहस्पति इस प्रकार दो दिव्य शक्तिया है जिनका हमारे अदर परिपूर्ण हो जाना तथा सत्य को सचेतनतापूर्वक आत्मसात् कर लेना हमारी पूर्णता-प्राप्ति की शर्तें है। वामदेव उन्हे पुकार रहा है कि वे इस महान् यज्ञ में आकर अमर आनंद के रस का पान करें, इसके आनदो के मद में आनद लें, और आत्मा के सार पदार्थ तथा ऐश्वर्यों को प्रचुरता के साथ बरसा दें। पराचेतन आनद की वे वर्षाए आत्म-शक्ति के अदर प्रविष्ट तथा पूर्ण रूप से समवस्थित हो जानी आवश्यक है। इस प्रकार एक आनद रचित हो जायगा, एक नियत्रित समस्वरता प्राप्त हो जायगी जो कि उस पूर्ण प्रकृति की सभी शक्तियो तथा क्षमताओ से परिपूरित होगी जो प्रकृति अपनी तथा अपने लोक की स्वामिनी है। (देखो, मत्र दसवां)

इसलिये बृहस्पति और इन्द्र हमारे अदर वृद्धि को प्राप्त हो जाय और तब सत्य मनोवृत्ति की वह अवस्था जिसे कि वे दोनो मिलकर रचते है, व्यक्त हो जायगी; क्योंकि वह इसकी प्रथम शर्त है। वे दोनों उदित होते हुए विचारो की पालना करें तथा मानसिक सत्ता की उन शक्तियों को अभिव्यक्ति में ले आवे जो एक समृद्ध व बहुविध विचार के द्वारा सत्य-चेतना के प्रकाश तथा उसके वेग को पा लेने में समर्थ हो जाती है। वे शक्तिया जो आर्य योद्धा पर आक्रमण करती है यह चाहती हैं कि उसके अदर मन की दरिद्रताओ को तथा आवेशात्मक प्रकृति की दरिद्रताओ को, सभी असुखो को,

रच दें। आत्म-शक्ति तथा मन.शक्ति एक साथ वृद्धिगत होकर इस प्रकार की समग्र दरिद्रता को तथा अपर्याप्तता को विनष्ट कर देती हैं। वे दोनो मिलकर मनुष्य को उसका राज-पद तथा उसका पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करा देती हैं। (देखो, मंत्र ग्यारहवा)

दसवा अध्याय

अश्वी देव—आनन्द के अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ४५

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथ परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन् मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते ॥१॥

(एष स्य भानु उदियर्ति) देखो, वह प्रकाश उदित हो रहा है और (दिव अस्य सानवि) इस द्यौ के उच्च धरातल पर (परिज्मा रथ युज्यते) सर्वव्यापी रथ को नियुक्त किया जा रहा है, (अस्मिन् अधि) इसके अदर (त्रय मिथुना पृक्षास) तीन युगलो में तृप्तिप्रद आनद [रखे गये हैं] और (तुरीय मधुन दृति) चौथी शहद की खाल (विरप्शते) परिस्रवित हो रही है॥१॥

उद् वा पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृत स्वर्ण शुक्र तन्वन्त आ रज ॥२॥

हे अश्वी देवो! (वा पृक्षास मधुमन्त उदीरते) तुम्हारे आनद शहद से भरपूर होकर ऊपर को उठते हैं, (रथा अश्वास) रथ और घोडे (उषस व्युष्टिषु) उषा के विपुल प्रकाशो में [ऊपर को उठते हैं], और वे (आ परीवृत तम) हर तरफ घिरे हुए अधकार के पर्दे को (अप-ऊर्णुवन्त) एक तरफ को समेट देते हैं और (रज) निम्न लोक को (स्व न शुक्र आ तन्वन्त) प्रकाशमान द्यौ जैसे चमकीले रूप में फैला देते हैं॥२॥

मध्व. पिबत मधुपेभिरासभिरुत प्रिय मधुने युञ्जाथा रथम्।
आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना ॥३॥

(मध्व पिबतम्) शहद का पान करो (मधुपेभि आसभि.) शहद पीनेवाले मुखो से (उत) और (मधुने) शहद के लिये (प्रिय रथ युञ्जाथाम्) अपने प्रिय रथ को नियुक्त करो। (मधुना) शहद से (वर्तनिं)

गतियो को और (पथ) उनके मार्गों को (आ जिन्वथ) तुम आनदयुक्त करते हो; (अश्विना) हे अश्वी देवो! (मधुमन्त दृति वहेथे) शहद से भरपूर वह खाल है जिसे तुम धारण करते हो ॥३॥

हंसासो ये वा मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुध ।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्ष सवनानि गच्छथ. ॥४॥

(हसास ये वा उहुव.) वे हस जो तुम्हें वहन करते हैं (मधुमन्त·) शहद से भरे हैं (हिरण्यपर्णा) सुनहरे पखोवाले हैं (उषर्बुध) उषा के साथ जागनेवाले हैं (अस्रिध) ऐसे हैं जिन्हें चोट नहीं पहुंचती, (उदप्रुत) वे जलो को बरसाते हैं (मन्दिन) आनद से परिपूर्ण हैं (मन्दिनिस्पृश) और उसे स्पर्श किये हुए हैं जो कि आनदवान् है। (मक्ष· मध्व न) मधुमक्खिया जैसे मधु के स्राव के पास जाती है, वैसे तुम (सवनानि गच्छथ) सोम-रसो की हवियो के पास जाते हो ॥४॥

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नय उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना ।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभि ॥५॥

(मधुमन्त अग्नय·) शहद से परिपूर्ण अग्निया (स्वध्वरास) यज्ञ को सुचारु रूप से वहन कर रही है, और वे (अश्विना) हे अश्वी देवो! (प्रति वस्तो) प्रतिदिन (उस्रा जरन्ते) तुम्हारी ज्योति की याचना कर रही है (यत्) जब कि (निक्तहस्त) पवित्र हाथोवाले (विचक्षण.) पूर्ण दर्शन से युक्त (तरणि) पार कराके लक्ष्य पर पहुचानेवाली शक्ति से युक्त मनुष्य ने (अद्रिभि) सोम निचोड़ने के पत्थरों से (मधुमन्त सोम सुषाव) मधुयुक्त सोमरस को निचोड़ लिया है ॥५॥

आकेनिपासो अहभिर्दविध्वत स्वर्ण शुक्र तन्वन्त आ रज· ।
सूरश्चिदश्वान् युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतयस्पथ ॥६॥

(आके-निपास) उनके समीप होकर सोमरस को पीती हुई [अग्निया] (अहभि) दिनों को पाकर (दविध्वत) अश्वारूढ हो जाती है और दौड़ने लगती है, और (रज स्वः न शुक्रम् आ तन्वन्त) निम्न लोक को प्रकाशमान द्यौ जैसे चमकीले रूप में विस्तृत कर देती है। (सूर· चित्)

सूर्य भी (अश्वान् युयुजान ईयते) अपने घोडों को जोतकर चल पडता है, (स्वधया) प्रकृति की आत्मनियमन की शक्ति के द्वारा तुम (चेतथ) सचेतन होते हुए (विश्वान् पथ अनु) सब रास्तो पर चलते हो।*

प्र वामवोचमश्विना धियधा रथ स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्य परि रजासि याथो हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ ॥७॥

(अश्विना) हे अश्वी देवो! (धियधा [अह] प्र-अवोचम्) अपने अदर विचार को धारण करते हुए मैंने उसका वर्णन किया है (य वा) जो तुम्हारा (अजर) क्षीण न होनेवाला (स्वश्व) पूर्ण घोड़ो से खींचा जानेवाला (रथ अस्ति) रथ है,–(येन) जिस रथ के द्वारा, तुम (सद्य) एकदम से (रजासि परियाथ) सब लोको को पार कर आते हो, (भोजं अच्छ) उस आनद को पाने के लिये (हविष्मन्तम्) जो हवियों से प्रचुरित है और (तरणिम्) जो पार कराके लक्ष्य को प्राप्त करा देनेवाला है ॥७॥

भाष्य

ऋग्वेद के वे सूक्त जो कि दो प्रकाशमान युगलो (अश्विनौ) को सबोधित किये गये है, ऋभु देवतावाले सूक्तो की तरह, प्रतीकात्मक शब्दो से भरे पडे हैं और तब तक नहीं समझे जा सकते जब तक कि उनके प्रतीकवाद का कोई दृढ़ सूत्र हाथ न लग जाय। अश्विनो को कहे गये इन सूक्तो के तीन मुख्य अग ये है, एक तो उनके रथ, उनके घोडो तथा उनकी तीव्र सर्वव्यापी गति की प्रशसा, दूसरे उनका मधु का अन्वेषण करना तथा मधु का आनद लेना और वे तृप्तिप्रद आनद जिन्हें कि वे अपने रथ में लिये रहते है, तीसरे सूर्य के साथ, सूर्य की लड़की सूर्या के साथ तथा उषा के साथ उनका घनिष्ठ सबध का होना।

अश्वी देव अन्य देवो की तरह सत्य-चेतना से, ऋतम् से उतरते हैं; वे द्यौ से, पवित्र मन से, पैदा या अभिव्यक्त होते हैं; उनकी गति सभी

*अथवा, तुम (विश्वान् पथ अनुचेतय) क्रमश सब रास्तो का ज्ञान प्राप्त करते हो।

लोको को व्याप्त करती है,—उनकी क्रिया का प्रभाव शरीर से शुरू होकर प्राणमय सत्ता और विचार के द्वारा पराचेतन सत्य तक पहुंचता है। वस्तुत. यह समुद्र से, सत्ता की अनिश्चित अवस्था से, शुरू होता है, जब कि वह (सत्ता) अवचेतन के अंदर से उद्भूत हो रही होती है और वे (अश्वी) आत्मा को इन जलो की बाढ के ऊपर (पोत की तरह) ले चलते है और इसकी समुद्रयात्रा में इसे जल में डूब जाने से रोकते है। इसलिये वे नासत्या है अर्थात् गति के अधिपति, यात्रा या समुद्रयात्रा के नेता।

वे मनुष्य की सहायता करते है उस सत्य द्वारा जो कि उन्हें विशेषत उषा के साथ, सत्य के अधिपति सूर्य के साथ और उसकी लडकी सूर्या के साथ साहचर्य से प्राप्त होता है, पर वे अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक रूप से अपने विशेष गुण के तौर पर सत्ता के आनद द्वारा उसकी सहायता करते है। वे आनंद के अधिपति, शुभस्पती, है, उनका रथ या उनकी गति अपने सभी स्तरो में सत्ता के आनद की तृप्तियो से परिपूर्ण है, वे उस खाल को धारण किये है जो कि परिस्रवित होते हुए मधु से भरी हुई है; वे मधु का, मधुरता का, अन्वेषण करते है और सब वस्तुओ को उस (मधु) से भर देते है। वे इसलिये आनद की कार्यसाधक शक्तिया है, उस आनद की जो कि सत्य-चेतना के अदर से प्रसृत होता है और जो अपने आपको तीनो लोको में विविध रूप ने अभिव्यक्त करके मनुष्य को उसकी यात्रा में अवलम्ब देता है। इसलिये उनकी क्रिया सभी लोको में होती है। वे मुख्यतया घुडसवार या घोडे को हाकनेवाले, अश्विन्, है जैसा कि उनका नाम सूचित करता है,—वे मनुष्य के प्राणबल को यात्रा की चालकशक्ति के तौर पर प्रयुक्त करते है; पर साथ ही ये विचार के अंदर भी कार्य करते है और उसे वे सत्य तक पहुचा देते है। वे शरीर को स्वास्थ्य, सौंदर्य, सपूर्णता प्रदान करते है, वे दिव्य भिषक् है। सब देवों में वे मनुष्य के पास आने के लिये और उसके लिये सुख व आह्लाद को विरचित करने के लिये सबसे अधिक तैयार रहते है,

आगमिष्ठा, शुभस्पती। क्योंकि यही उनका विशिष्ट और पूर्ण कार्य है। वे मुख्यत. शुभ के, आनद के, अधिपति हैं, शुभस्पती।

अश्विनों का यह स्वरूप प्रस्तुत सूक्त में वामदेव द्वारा एक सतत बल के साथ दर्शाया गया है। प्राय· प्रत्येक ऋचा में, सतत पुनरुक्ति के साथ, मधु, मधुमान्, शब्द आ जाते है। यह सत्ता की मधुरता का सूक्त है, यह सत्ता के आनद का एक गीत है।

वह महान्, प्रकाशो का प्रकाश, सत्य का सूर्य, सत्य-चेतना का उजाला जीवन की गति में से ऊपर उठ रहा है, उस प्रकाशपूर्ण मन को, स्व को, रचने के लिये, जिसमें कि निम्न त्रिगुणित लोक अपने विकास की पूर्णता को प्राप्त होता है। एष स्य भानु उदियर्ति। मनुष्य के अदर इस सूर्य के उदय हो जाने से, अश्विनो की पूर्ण गति संभव हो जाती है, क्योंकि सत्य द्वारा ही सिद्ध आनद, द्युलोकीय आनद प्राप्त होता है। इसलिये अश्विनों का रथ इस द्यौ की ऊचाई पर, इस देदीप्यमान मन के उच्च धरातल या स्तर पर, जोता जा रहा है। वह रथ सर्वव्यापी है; इसकी गति सब जगह पहुंचती है; इसका वेग हमारी चेतना के सब स्तरों के ऊपर स्वतत्रतापूर्वक संचरित होता है। युज्यते रथ परिज्मा दिवो अस्य सानवि।

अश्विनों की पूर्ण सर्वव्यापी गति सत्ता के आनद की सभी सभव तृप्तियो की पूर्णता को ले आती है। इस बात को प्रतीकात्मक रूप में वेद की भाषा में यह कहकर व्यक्त किया गया है कि उनके रथ के अदर तृप्तिया, पृक्षास, तीन युगलों में उपलब्ध होती है, पृक्षास अस्मिन् मिथुना अधि त्रय। कर्मकांडी व्याख्या में 'पृक्षास' शब्द का अनुवाद इसके सजातीय शब्द प्रय की तरह 'अन्न' किया गया है। धात्वर्थ है आनद, परिपूर्णता, तृप्ति और इसमें 'स्वादुता' या तृप्तिप्रद भोजन का भौतिक अर्थ तथा आनद, भोग या तृप्ति का आध्यात्मिक अर्थ दोनों हो सकते है। फिर तृप्तिया या स्वादुताएं जो कि अश्विनों के रथ में ले जायी जाती हैं तीन युगलो में है, अथवा इस वाक्य का सीधा सादा यह अर्थ हो सकता

है कि वे है तो तीन पर एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से संबद्ध है। कोई भी अर्थ हो, सकेत तीन प्रकार के आनंदभोगो या तृप्तियो की तरफ है जो हमारी प्रगतिशील चेतना की तीन गतियों या तीन लोको से संबध रखती है,—शरीर की तृप्तिया, प्राण की तृप्तिया, मन की तृप्तिया। यदि वे तीन युगलों में है तो यह समझना चाहिये कि प्रत्येक लोक पर आनद की द्विगुणित क्रिया होती है जो कि अश्विनो के द्विगुणरूप और सम्मिलित युगलरूप के अनुरूप है। स्वय वेद में ही इस देदीप्यमान तथा आनदमय युगल के बीच में भेद कर सकना तथा यह मालूम कर सकना कि प्रत्येक अलग अलग किसका द्योतक है, बडा कठिन है। ऐसा कोई सकेत हमारे पास नहीं है जैसा कि तीन ऋभुओं के विषय में हमें मिलता है। किंतु शायद इन दो डिओस्कौरोई (Dioskouroi), दिवो नपाता, द्यौ के पुत्रो, के ग्रीक नाम अपने अदर एक सूत्र रखे हुए है। कैस्टर (Kastor) जो कि बडे का नाम है 'काशितृ' प्रतीत होता है जिसका अर्थ है चमकीला; पोलुड्युकस (Poludeukes)* संभवत. 'पुरुदसस्' हो सकता है जो कि वेद में अश्विनों के विशेषण के तौर से आनेवाला एक नाम है, जिसका अर्थ होता है 'विविध क्रियावाले'। यदि यह ठीक है तो अश्विनों की युगलरूप उत्पत्ति शक्ति और प्रकाश, ज्ञान और सकल्प, चेतना और बल, गौ और अश्व के सतत आनेवाले वैदिक द्वैत की ही स्मारक है। अश्विनो द्वारा हमें प्राप्त करायी गयी सभी तृप्तियो में ये दो तत्त्व इस तरह मिले हुए है कि अलग नहीं किये जा सकते; जहा रूप प्रकाश या चेतना का है वहा शक्ति और बल उसमें सम्मिलित है; जहा रूप शक्ति या बल का है वहां प्रकाश और चेतना उसमें सम्मिलित है।

---

*'Poludeukes' का K अक्षर मूल 'श्' अक्षर का सकेत करता है; उस अवस्था में नाम 'पुरुदंसस्' के बजाय 'पुरुदशस्' होना चाहिये था; किंतु कई ऊष्मा अक्षरो के बीच में, आर्यन भाषाओं की आरम्भिक परिवर्तनशील अवस्था में, परस्पर इस प्रकार के परिवर्तन प्राय हो जाते थे।

आवेशात्मक और मूर्त्तभूत सत्ता सब दिव्य सूर्य की प्रभा और अन्तर्ज्ञान, शक्ति और प्रकाश,—तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य*—से परिपूर्ण हो जाते हैं। निम्न मानसिक सत्ता उच्च देव की आकृति तथा प्रतिमूर्त्ति में रूपातरित हो जाती हैं। अपोर्णुवन्त. तम आ परीवृत, स्व न शुक्र तन्वन्त आ रज। (देखो, मत्र दूसरा)

यह ऋचा अश्विनो की पूर्ण तथा अतिम गति का वर्णन समाप्त कर देती है। चौथी ऋचा में ऋषि वामदेव अपने निजी आरोहण, अपनी निजी सोम-हवि, अपनी यात्रा और अपने यज्ञ की तरफ आता है, इसके लिये (तीसरे मत्र में) वह उनकी आनदप्रद तथा प्रकाशप्रद क्रिया के लिये अपना अधिकार प्रतिपादित कर रहा है। अश्विनों के मुख मधु को पीने के लिये बने हैं; तो उसके यज्ञ में उन्हें उस मधु को पीना चाहिये। मध्व पिबत मधुपेभि आसभि। उन्हें मधु के लिये अपने रथ को नियुक्त करना चाहिये, अपने उस रथ को जो कि मनुष्यो का प्रिय है, उत प्रिय मधुने युञ्जाथा रथम्। क्योकि मनुष्य की गति को, उसकी उत्तरोत्तर क्रियाशीलता को, उसके सब मार्गों में वे उसी आनद के शहद और मधु से आह्लादयुक्त करते हैं। आ वर्तनि मधुना जिन्वथ पथ। क्योकि वे उस खाल को धारण किये हैं जो शहद से परिपूर्ण तथा इससे परिस्रवित हो रही है। दृति वहेथे मधुमन्तमश्विना। अश्विनो की क्रिया द्वारा मनुष्य की आनद की तरफ होनेवाली प्रगति ही स्वयमेव आनदप्रद हो जाती है; उसका सारा प्रयत्न और सघर्ष और श्रम एक दिव्य सुख से भरपूर हो जाता है। जैसे वेद में यह कहा गया है कि सत्य द्वारा सत्य की तरफ प्रगति होती है, अर्थात् मानसिक और भौतिक चेतना के अदर सत्य के नियम की उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा हम अत में मन और शरीर से परे पराचेतन सत्य तक पहुचते हैं, वैसे ही यहा यह दर्शाया गया है कि आनद के द्वारा आनद की तरफ प्रगति होती है,—हमारे सब अगो में, हमारी सब क्रियाओ

---

*यह गायत्री (ऋग्० ३.६२ १०) का महत्त्वपूर्ण वाक्य है।

में दिव्य आनद की उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा हम पराचेतनात्मक आनद तक पहुचते हैं। (देखो, मत्र तीसरा)

इस ऊर्ध्वमुखी गति में, घोड़े जो कि अश्विनों के रथ को खींचते हैं, पक्षियो, हसो, हसास, के रूप में बदल जाते है। पक्षी वेद में प्राय कर तो उन्मुक्त तथा ऊपर को उडती हुई आत्मा का प्रतीक है, अन्य स्थलों में उन शक्तियों का प्रतीक है जो उसी प्रकार उन्मुक्त होकर ऊपर को गति करती है, ऊपर हमारी सत्ता की ऊचाइयों की तरफ को उडती है, व्यापक रूप में एक स्वच्छन्द उडान के साथ उडती है, प्राणशक्ति की, घोडे की, अश्व की सामान्य सीमित गति या यत्नसाध्य प्लुतगति से आबद्ध नहीं रहतीं। ऐसी ही शक्तियां है जो इन आनद के अधिपतियो के स्वच्छन्द रथ को खींचती है, जब कि सत्य का सूर्य हमारे अदर उदित हो जाता है। ये पखोवाली गतिया उस मधु से भरपूर होती है जो मधु उमडकर परिस्रवित होती हुई खाल में से बरसता है, मधुमन्त'। वे आक्रान्त न होने योग्य, अस्रिध, होती है, वे अपनी उडान में किसी भी क्षति को नहीं पातीं, या इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे किसी भी मिथ्या या क्षतिपूर्ण गति को नहीं करतीं। और वे सुनहरे पखोंवाली, हिरण्यपर्णा, होती हैं। सुवर्ण, सुनहरा, सूर्य के प्रकाश का प्रतीकरूप रग है। इन शक्तियों के पख उसके प्रकाशमान ज्ञान की परिपूर्ण, तृप्त, प्राप्त कर लेनेवाली गति रूप, पर्ण, होते है। क्योंकि ये वे पक्षी है जो कि उषा के साथ जागते है, ये वे पखवाली शक्तिया है जो कि अपने घोसलो से निकल पड़ती है जब कि उस द्यौ की पुत्री (उषा) के पैर हमारी मानवीय मनोवृत्ति के स्तरो पर, दिवो अस्य मानवि, दबाव डालते है। ऐसे हंस है जो कि इन तेज अश्वारोही युगलों (अश्विनों) को वहन करते है। हसास ये वा मधुमन्त अस्रिध हिरण्यपर्णा उहुव उषर्वुध ।

मधु से भरी हुई ये पखोवाली शक्तिया जब ऊपर उठती हैं तब हमारे ऊपर आकाश के प्रचुर जलो को, उच्च मानसिक चेतना की महान् वृष्टि को, बरसा देती हैं; वे प्रमोद से, आनद से, अमृत-रस के मद से परि-

प्लुत, भरपूर होती है, और वे उस पराचेतन सत्ता को स्पर्श करती हैं, उस पराचेतन सत्ता के साथ सचेतन सस्पर्श में आती हैं, जो सनातनतया आनद की स्वामिनी है, सदा ही इसके दिव्य मद से आनदित है। उद-प्रुत मन्दिन मन्दिनिस्पृश। उन द्वारा खींचे जाकर वे आनद के अधिपति (अश्विनौ) ऋषि की सोमहवि पर आते हैं जैसे कि मधुमक्खियां शहद के स्रावों पर; मध्व न मक्ष सवनानि गच्छथ। स्वयं मधु को बनानेवाले वे मधुमक्षिकाओं की तरह, उस सब मधु का अन्वेषण करते रहते हैं जो कोई भी मधु उनके और अधिक आनद के लिये उपकरण के तौर पर काम आ सके। (देखो, मत्र चौथा)

यज्ञ में सामान्य प्रकाशीकरण की वही गति जिसे पहले ही अश्विनों की ऊर्ध्वारोही उडान के परिणाम के तौर से वर्णित किया जा चुका है, अब अग्नि की ज्वालाओं की सहायता से की गई वर्णित हुई है। क्योंकि सकल्पाग्नि की, आत्मा के अदर जलती हुई दिव्य शक्ति की, ज्वालाए भी उमडकर प्रवाहित होती हुई मधुरता से सिंचित हैं और इसलिये वे दिनप्रतिदिन यज्ञ (अध्वर)* को उत्तरोत्तर अपने लक्ष्य पर ले जाने के अपने महान् कार्य को पूर्णता के साथ करती हैं। उस उत्तरोत्तर प्रगति के लिये वे अपनी ज्वालामयी जिह्वाओं से, प्रकाशमान अश्विनों के दैनिक मिलाप की याचना करती हैं, जो अश्वी अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योतियों के प्रकाश से प्रकाशमान हैं और विद्योतमान शक्ति के अपने विचार द्वारा† उन ज्वालाओं को धारण करते हैं। स्वध्वरास मधुमन्त अग्नय उस्रा जरन्ते प्रतिवस्तो अश्विना।

---

*'अध्वर' शब्द जो कि यज्ञ के लिये आता है, असल में एक विशेषण है और पूरा मुहावरा है 'अध्वर यज्ञ' अर्थात् यज्ञिय कर्म जो कि मार्ग पर यात्रा करता है, यज्ञ जिसका स्वरूप एक प्रगति या यात्रा का है। अग्नि, सकल्प, यज्ञ का नेता है।

†शवीरया धिया, ऋग्वेद १.३.२।

अग्नि की यह अभीप्सा तब होती है जब कि यज्ञकर्त्ता ने पवित्र हाथों के साथ, एक पूर्णतया विवेकयुक्त दर्शन (Vision) के साथ, और अपनी आत्मा की उस शक्ति के साथ जो यात्रा की समाप्ति पर्यंत पहुंचने के लिये—सब बाधाओ को पार करके सब विरोधों को नष्टभ्रष्ट करके यज्ञ के लक्ष्य तक पहुच जाने के लिये—तत्पर है, सोम-रस निकालने के पत्थरो से अमरताप्रद रस को प्रस्तुत कर लिया होता है, और वह स्वय भी अश्विनों के मधु से परिपूर्ण हो चुका होता है। यत् निक्तहस्त तरणि विचक्षण सोम सुषाव मधुमन्तमद्रिभि। क्योंकि वस्तुओ में निहित व्यक्ति का (वैयक्तिक) आनद अश्विनो की त्रिविध तृप्तियों द्वारा और चौथे सत्य से बरसनेवाले आनद के द्वारा ही मिलता है। यज्ञकर्त्ता के परिशुद्ध हाथ निक्तहस्त, सभवत पवित्रीकृत भौतिक सत्ता के प्रतीक हैं[‡], शक्ति आती है पूर्ण किये गये प्राण में से, स्पष्ट मानसिक दर्शन की शक्ति, विचक्षण, सत्य से प्रकाशित मन की सूचक होती है। ये शर्तें है मन, प्राण और शरीर की जिनके कि पूरा होने पर अश्विनो की त्रिविध तृप्तियों के ऊपर मधु उमडकर प्रवाहित होने लगता है। (देखो, मत्र पाचवा)

जब यज्ञकर्ता इस प्रकार अपने यज्ञ में वस्तुओ के मधुपूर्ण आनदो को निचोडकर प्रस्तुत कर चुका है तब सकल्पाग्नि की ज्वालाएं उन्हें समीप से पान करने योग्य हो जाती है, वे इसके लिये बाध्य नहीं होतीं कि वे उन्हें थोडा थोडा करके या पीडा के साथ चेतना के दूरस्थ और कठिनता से प्राप्य स्तर से जाकर लावे। इसलिये एकदम और स्वच्छन्दतापूर्वक पान करके वे एक प्रफुल्लित शक्ति व तीव्रता से परिपूर्ण हो जाती है और हमारी सत्ता के सपूर्ण क्षेत्र के ऊपर इधर उधर तेजी से गति करने और दौड़ लगाने लगती हैं ताकि निम्न चेतना स्वतत्र तथा प्रकाशमान मन के

[‡]तो भी हस्त या भुजा अधिकतर दूसरे ही प्रकार से प्रतीक होते है, विशेषकर तब जब कि विचार का विषय इन्द्र के दो हाथ या दो भुजाएं होती है।

जगमगाते लोक की आकृति (प्रतिमा) में प्रसृत तथा रचित हो जाय। आके-निपास अहभि दविध्वत, स्व न शुक्र तन्वन्त आ रज। यह पिछला वाक्याश बिना किसी परिवर्तन के दूसरी ऋचा में आ चुका है, पर यहा ये चतुर्विध तृप्ति से परिपूर्ण सकल्पाग्नि की ज्वालाए है जो कि कार्य करती है। वहा देवो की स्वच्छन्द ऊर्ध्वगति केवल प्रकाश के सस्पर्श द्वारा और बिना प्रयत्न के हो गयी थी, यहा यज्ञ में मनुष्य का कठोर श्रम और अभीप्सा है। इसलिये यहा समय द्वारा, दिनो द्वारा यह होता है कि कार्य पूर्णता को प्राप्त करता है—अहभि, दिनो द्वारा, अर्थात् सत्य की क्रम से आनेवाली उन उषाओ द्वारा जिनमेंसे प्रत्येक रात्रि पर अपनी विजय को लिये आती है, उन बहिनो की अविच्छिन्न परपरा द्वारा जिनका दिव्य उषा के सूक्त में हम उल्लेख देख चुके है। मनुष्य उस सबको एकदम पकड या धारण नहीं कर सकता जिसे कि प्रकाश उसके समीप लाता है, इसका लगातार दोहराया जाता रहना अपेक्षित है ताकि वह उस प्रकाश में अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त कर सके।

पर केवल सकल्प की अग्निया ही निम्न चेतना को रूपातरित करने के कार्य पर नहीं है। सत्य का सूर्य भी अपने देदीप्यमान घोडो को नियुक्त कर देता है और गतिमान् हो जाता है, सूर चिद् अश्वान् युयुजान ईयते। अश्वी भी मानवीय चेतना के लिये इसकी प्रगति के सब मार्गों का ज्ञान प्राप्त करते है, ताकि वह (चेतना) एक पूर्ण, समस्वर और बहुमुखी गति को कर सके। यह गति अनेक मार्गों में आगे की ओर बढती हुई दिव्य ज्ञान के प्रकाश से सयुक्त हो जाती है, प्रकृति की स्वत प्रवृत्त आत्मनियामक क्रिया द्वारा जिसे कि वह (प्रकृति) तब धारण करती है जब कि सकल्प और ज्ञान एक पूर्णत आत्मचेतनायुक्त तथा अन्तर्ज्ञानात्मक तौर से पथ-प्रदर्शित क्रिया की पूर्ण समस्वरता के साथ परस्पर आबद्ध हो जाते है। विश्वान् अनु स्वधया चेतथ पथ। (देखो, मन्त्र छठा)

वामदेव अपने सूक्त को समाप्त करता है। वह देदीप्यमान विचार को उसकी उच्च प्रकाशमयता के सहित, दृढ़ता के साथ ग्रहण कर लेने में

समर्थ हो चुका है और उसने शब्द की आकृति बनानेवाली और स्थिरता देनेवाली शक्ति के द्वारा अपने अदर अश्विनों के रथ को अभिव्यक्त कर लिया है, अर्थात् अश्विनो के आनंद की अमृत-गति को; उस आनद की गति को जो कि म्लान नहीं होती या पुरानी नहीं होती या समाप्त नहीं होती,—यह आयुरहित और अक्षय, अजर, होती है,—क्योंकि यह खींची जाती है पूर्ण तथा उन्मुक्त शक्तियो द्वारा न कि मानवीय प्राण के सीमित और शीघ्र क्षीण हो जानेवाले, शीघ्र उच्छृखल हो पडनेवाले घोड़ो द्वारा। प्र वाम् अवोचम् अश्विना धियन्धा, रथ स्वश्व अजर य अस्ति। इस गति में वे एक क्षण के अदर निम्न चेतना के सब लोकों के आर-पार हो जाते है और इसे अपने तीव्र आनदो से ढक देते है और इस प्रकार उस मनुष्य के अदर जो कि अपनी सोमरस की हवि से परिपूर्ण होता है ऐसे विश्वव्यापी आनद को प्राप्त कर लेते है जिसे पाकर वे प्रसन्नता के साथ उसके अदर प्रविष्ट होकर, मनुष्य को सब विरोधियो से पार कराके महान् लक्ष्य तक ले जाते हैं। येन सद्य परि रजासि याथ हविष्मन्त तरणि भोजमच्छ। (देखो, मन्त्र सातवा)

ग्यारहवा अध्याय

ऋभु—अमरता के शिल्पी

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त २०

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया।
अकारि रत्नधातम. ॥१॥

(अयम्) यह देखो (देवाय जन्मने) दिव्य जन्म के लिये (विप्रेभि) प्रकाशमान मनवालो द्वारा (आसया) मुख के प्राण से (स्तोम अकारि) [ऋभुओ की] स्तुति की गयी है, (रत्नधातम) जो कि पूर्णतया सुख को देनेवाली है ॥१॥

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।
शमीभिर्यज्ञमाशत ॥२॥

(ये) जिन्होंने (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (मनसा) मन द्वारा (वचोयुजा हरी ततक्षु) वाणी से नियोक्तव्य उसके दो चमकदार घोडो को निर्मित किया, रचा, और वे (शमीभि.) अपनी कार्य की निष्पत्तियो के द्वारा (यज्ञम् आशत) यज्ञ का उपभोग करते है ॥२॥

तक्षन् नासत्याभ्या परिज्मान सुख रथम्।
तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम् ॥३॥

उन्होने (नासत्याभ्याम्) समुद्रयात्रा के युगल देवों [अश्विनो] के लिये (परिज्मान) सर्वव्यापी गतिवाले (सुख रथम्) उनके सुखमय रथ को (तक्षन्) रचा, उन्होने (सबर्दुघां धेनु तक्षन्) मधुर दूध देनेवाली प्रीणयित्री गौ को रचा ॥३॥

युवाना पितरा पुन सत्यमन्त्रा ऋजूयव.।
ऋभवो विष्टचक्रत ॥४॥

(ऋभव) हे ऋभुओ ! (विष्टि) अपनी अभिव्याप्ति में, तुमने (पितरा) पिता-माताओ को (पुन युवाना अक्रत) फिर से जवान कर दिया,

जो तुम (ऋजूयव) सरल मार्ग को चाहनेवाले हो, (सत्यमन्त्रा·) अपने मनोमयीकरणों में सत्य से युक्त हो॥४॥

स वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता।
आदित्येभिश्च राजभिः॥५॥

(मदास) सोम-रस के आनद (व समग्मत) तुम्हें पूर्णतया प्राप्त होते हैं, (मरुत्वता इन्द्रेण च) मरुतो के सहचर इन्द्र के साथ, (राजभिः आदित्येभि च) और राजा-भूत अदिति के पुत्रो के साथ॥५॥

उत त्य चमस नव त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
अकर्त चतुरः पुन.॥६॥

(उत) और (त्वष्टु· त्य नवं निष्कृत चमसम्) त्वप्टा के इस नवीन तथा पूर्ण किये हुए प्याले के, तुमने (पुन चतुर. अकर्त) फिर चार [प्याले] कर दिये॥६॥

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते।
एकमेक सुशस्तिभि॥७॥

(ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (सुन्वते) सोमहवि देनेवाले के लिये (त्रि साप्तानि रत्नानि) त्रिगुणित सप्त आनदो को (आ-धत्तन) धृत कर दो, (एकमेकम्) प्रत्येक को पृथक् पृथक् (सुशस्तिभि.) उनकी पूर्ण अभिव्यक्तियों के द्वारा॥७॥

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया।
भाग देवेषु यज्ञियम्॥८॥

(वह्नय. अधारयन्त) उन वहन करनेवाले [ऋभुओं] ने [उन रत्नों को] धारण किया और स्थित कर दिया, उन्होंने (सुकृत्यया) अपने कर्मों की पूर्णता द्वारा (यज्ञियं भागम्) यज्ञिय भाग को (देवेषु अभजन्त) देवो में विभाजित कर दिया॥८॥

भाष्य

ऋभुओ के विषय में ऐसा सकेत किया गया है कि वे सूर्य की किरणें है। और यह सच भी है कि वरुण, मित्र, भग और अर्यमा

की तरह वे सौर प्रकाश की, सत्य की, शक्तिया हैं। परतु वेद में उनका विशेष स्वरूप यह है कि वे अमरता के शिल्पी हैं। वे उन मानव पुरुषो के रूप में चित्रित किये गये हैं जिन्होने ज्ञान की शक्ति द्वारा तथा अपने कर्मों की पूर्णता द्वारा देवत्व की अवस्था को प्राप्त कर लिया है। उनका कार्य यह है कि वे दिव्य प्रकाश तथा आनद की उसी अवस्था की ओर जिसे कि उन्होने अपने दिव्य विशेषाधिकार के तौर पर स्वय अर्जित किया है, मनुष्य को उठा ले जाने में इन्द्र की सहायता करें। उन्हें सबोधित किये गये सूक्त वेद में थोडे ही हैं और प्रथम दृष्टि में वे अत्यधिक गूढ़ार्थवाले प्रतीत होते हैं, क्योकि वे कुछ रूपको तथा प्रतीको से भरे हुए हैं जो कि बार बार दोहराये गये हैं। किंतु एक बार जब कि वेद के मुख्य मुख्य सूत्र विदित हो जाय तो वे उलटे अत्यधिक स्पष्ट और सरल हो जाते हैं और एक संगतियुक्त तथा मनोरजक विचार को उपस्थित करते हैं जो कि अमरता के वैदिक सिद्धात पर एक स्पष्ट प्रकाश डालता है।

ऋभु प्रकाश की शक्तिया हैं जो कि भौतिकता के अदर अवतीर्ण हुई हैं और वहा उन मानवशक्तियो के रूप में जनित हो गयी हैं जो देव तथा अमर बन जाने की अभीप्सा में लगी हैं। अपने इस स्वरूप में वे 'सुधन्वन्'* के पुत्र (सौधन्वना) कहाते हैं,—यह एक पैतृक नाम है जो केवल इसका आलकारिक निदर्शन है कि वे भौतिकता की परिपूर्ण शक्तियों से पैदा होते हैं जब कि वे शक्तिया प्रकाशित शक्ति से सस्पृष्ट होती हैं। परतु उनका असली स्वरूप यह है कि वे इस प्रकाशित शक्ति के अदर से अवतीर्ण हुए हैं और कहीं कहीं उन्हें इस रूप में सबोधित भी किया गया

---

*'धन्वन्' का यहा पर धनुष अर्थ नहीं है, किंतु भौतिकता का वह पिण्ड या मरुस्थल है जिसे कि दूसरे रूप में उस पहाडी या चट्टान के रूप से प्रतिरूपित किया गया है जिसमेंसे जल और किरणो को छुडाकर लाया जाता है।

है, "इन्द्र की सतानो! प्रकाशित शक्ति के पौत्रो!" क्योकि इन्द्र अर्थात् मनुष्य में रहनेवाला दिव्य मन, प्रकाशित शक्ति के अदर से पैदा हुआ है, जैसे अग्नि विशुद्ध शक्ति के अंदर से, और इस दिव्य मन रूपी इन्द्र से पैदा होती है अमरता की इच्छुक मानवीय अभीप्साए।

तीन ऋभुओ के नाम, उनकी उत्पत्ति के क्रम के अनुसार ये है, पहला ऋभु या ऋभुक्षन् अर्थात् कुशल ज्ञानी या ज्ञान को गढनेवाला, दूसरा विभ्वा या विभु अर्थात् व्यापी, आत्मप्रसारक, तीसरा वाज अर्थात् प्रचुरत्व। उनके अलग अलग नाम उनके विशेष स्वरूप और कर्म को दर्शाते है, किंतु वस्तुत वे मिलकर एक त्रैत है, और इसलिये वे 'विभव' या 'वाजाः' भी कहलाते है, यद्यपि प्राय उन्हें 'ऋभव' ऋभु नाम ही दिया गया है। सबसे बडा, ऋभु, मनुष्य के अदर प्रथम है जो कि अपने विचारों तथा कर्मों के द्वारा अमरता के रूपो की आकृति बनाना शुरू करता है, विभ्वा इस रचना को व्याप्ति प्रदान करता है; सबसे छोटा, वाज, दिव्य प्रकाश और उपादान-तत्त्व की प्रचुरता को देता है जिसके द्वारा पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। अमरता के इन कर्मो और निर्माणो को वे, बार बार दोहराया गया है कि, विचार की शक्ति द्वारा, क्षेत्र और सामग्री के रूप में मन को लेकर, करते है, वे किये जाते है शक्ति से; वे परिसेवित होते है रचनात्मक तथा फलोत्पादक क्रिया में परिपूर्णता ले आने के द्वारा, स्वपस्यया, सुकृत्यया, जो कि अमरता के गढ़े जाने की शर्त है। इन अमरता के शिल्पियो की ये रचनाए, जैसे कि उपस्थित सूक्त में सक्षेप से सगृहीत कर दी गयी है, ये है,—१. इन्द्र के घोड़े, २. अश्विनो के रथ, ३. मधुर दूध देनेवाली गाय, ४. विश्व-व्यापी पिता-माताओ की जवानी, ५. देवों के उस एक पीने के प्याले को चार-गुणित कर देना जिसे कि आरभ में त्वष्टा, पदार्थों के रचयिता, ने रचा था।

सूक्त अपने उद्दिष्ट विषय के सकेत से आरभ होता है। यह ऋभु-शक्तियो की स्तुति है जो कि दिव्य जन्म के लिये की गयी है, उन मनुष्यों द्वारा की गयी है जिनके मनों ने प्रकाशमयता को पा लिया है और जिनके

मनों के अंदर प्रकाश की यह शक्ति है जिसमेंसे ऋभु पैदा हुए थे। की गयी है यह मुख के प्राण द्वारा, विश्व में विद्यमान जीवन-शक्ति के द्वारा। इसका उद्देश्य है मानवीय आत्मा के अंदर परमानंद के समस्त सुखों को, दिव्य जीवन के जो त्रिगुणित सात आनंद हैं उनको, दृढ करा देना। (देखो, मंत्र पहला)

यह दिव्य जन्म निर्दर्शित किया गया है ऋभुओं द्वारा, जो कि पहले मानव होकर, अब अमर हो गये हैं। इस दिव्य जन्म के ऋभु निदर्शन हैं, दृष्टांत हैं। कार्य की—मानव के ऊर्ध्वमुख विकास के उस महान् कार्य की जो कि विश्व-यज्ञ की पराकोटि है,—अपनी निष्पत्तियों, कार्यपूर्त्तियों, निर्मितियों द्वारा उन्होंने उस यज्ञ में—विश्व-यज्ञ में—दिव्य शक्तियों (देवताओं) के साथ अपने दिव्य भाग को और स्वत्व को प्राप्त किया है। वे निर्माण की और ऊर्ध्वमुखी प्रगति की उन्नतिप्राप्त मानवीय शक्तियां हैं जो मनुष्य के दिव्यीकरण में देवों की सहायता करती हैं। और उनकी सब निष्पत्तियों में, सब निर्माणों में से जो केंद्रभूत है वह है इन्द्र के दो जगमगाते घोड़ों का निर्माण, उन घोड़ों का जो कि वाणी द्वारा अपनी गतियों में नियुक्त किये जाते हैं, जो शब्द द्वारा नियुक्त होते हैं और रचे जाते हैं मन से। क्योंकि प्रकाशित मन की, मनुष्य के अंदर विद्यमान दिव्य मन की, उन्मुक्त गति ही अन्य सभी अमरताप्रद कार्यों की शर्त है। (देखो, मंत्र दूसरा)

ऋभुओं का दूसरा कार्य है अश्विनों, मानवीय यात्रा के अधिपतियों, के रथ को निर्मित करना,—अभिप्राय है, मनुष्य के अंदर आनंद की उस सुखमय गति को रचित करना जो कि अपनी क्रिया द्वारा उसके अंदर के सत्ता के सब लोकों या स्तरों को व्याप्त कर लेती है, भौतिक पुरुष को स्वास्थ्य, यौवन, बल, संपूर्णता, प्राणमय पुरुष को सुखभोग की तथा क्रिया की क्षमता, मनोमय पुरुष को प्रकाश की आनंदमयी शक्ति प्रदान करती है,—संक्षेप में कहना चाहें तो, जो उसके सब अंगों के अंदर सत्ता के विशुद्ध आनंद के सामर्थ्य को ला देती है। (देखो, तीसरे मंत्र का पूर्वार्द्ध)

ऋभुओ का तीसरा कार्य है उस गौ को रचना जो कि मधुर दूध देती है। दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि यह गौ आच्छादक त्वचा के अंदर से–प्रकृति की बहिर्मुख गति तथा क्रिया के पर्दे के अदर से–ऋभुओ द्वारा छुडाकर लायी गयी है, निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभि । यह प्रीणयित्री गौ (धेनु) स्वय वह है जो कि गति के विश्वव्यापी रूपों की और विश्वव्यापी वेग की गौ है, विश्वजुवम्, विश्वरूपाम्, दूसरे शब्दो में वह है आदि-रश्मि, अदिति, असीमित सचेतन सत्ता की असीमित चेतना, जो कि लोकों की माता है। वह चेतना ऋभुओ द्वारा प्रकृति की आवरण डालनेवाली गति के अदर से निकालकर लायी गयी है और उसकी एक आकृति को उन्होंने यहा हमारे अदर रच दिया है। वह द्वैत-शक्तियो की क्रिया के द्वारा, अपनी सतान से, निम्नलोकवर्ती आत्मा से, जुदा कर दी गयी है; ऋभु उसे फिर से अपनी असीम माता के साथ सतत साहचर्य प्राप्त करा देते हैं। (देखो, तीसरे मत्र का उत्तरार्द्ध)*

ऋभुओं का एक और महान् कार्य है अपने पूर्वकृत कार्यों–इन्द्र के प्रकाश, अश्विनो की गति, प्रीणयित्री गौ के परिपूर्ण दोहन–से शक्ति पाकर विश्व के वृद्ध पिता-माताओं, द्यौ तथा पृथिवी को पुन जवानी प्राप्त करा देना। द्यौ है मनोमय चेतना, पृथिवी है भौतिक चेतना। ये दोनो मिलकर इस रूप में प्रदर्शित किये गये है कि ये चिर-वृद्ध है और नीचे गिर पडे हुए यज्ञ-स्तभो की तरह लबे भूमि पर, जीर्ण-शीर्ण और कष्ट भोगते हुए पडे हैं, सना यूपेव जरणा शयाना। ऋभु, कहा गया है कि, आरोहण करके सूर्य के घर तक पहुचते है जहां कि वह अपने सत्य की अनावृत दीप्ति के साथ निवास करता है, और वहा वे बारह दिन निद्रा लेकर, उसके बाद द्यौ तथा पृथिवी को सत्य की प्रचुर वृष्टि से भरपूर करके, उन्हें पालित-पोषित करके, फिर से जवानी तथा शक्ति प्रदान कर, इन्हें पार कर जाते हैं†। वे द्यौ को अपने कार्यों से व्याप्त कर लेते है,

---

*अन्य ब्योरो के लिये देखो, ऋग्० ४.३३.४ व ८; ४.३६.४ आदि।

†देखो, ऋग्वेद ४.३३ २,३,७; ४ ३६.१,३; १.१६१.७।

वे मनोवृत्ति को दिव्य उन्नति प्राप्त करा देते हैं‡, वे इसे और भौतिक सत्ता को एक नवीन तथा यौवनपूर्ण और अमर गति प्रदान कर देते हैं। क्योंकि सत्य के घर में से वे अपने साथ उसे पूर्ण करके ले आते हैं जो कि उनके कार्य की शर्त है, अर्थात् सत्य के सरल मार्ग में होनेवाली गति को और मनोवृत्ति के सब विचारो में तथा शब्दो में अपनी पूर्ण प्रभावोत्पादकता सहित स्वय सत्य को। इस शक्ति को निम्न लोक के अदर अपने व्यापी प्रवेश में साथ ले जाकर, वे उसके अदर अमृत-तत्त्व को उडेल देते हैं। (देखो, मन्त्र चौथा)

जिसे वे अपने कार्यों द्वारा अधिगत करते हैं और मनुष्य को उसके यज्ञ में प्राप्त कराते हैं वह इसी अमृत-तत्त्व का रस और इसके आनद हैं। और इस सोमपान में उनके साथ जो आकर बैठते हैं वे हैं, एक तो इन्द्र तथा मरुत् अर्थात् दिव्य मन तथा इसकी विचार-शक्तिया, और दूसरे चार महान् राजा, अदिति के पुत्र, असीमता की सतान,—जो हैं वरुण, मित्र, अर्यमा, भग,—क्रमश सत्य-चेतना की पवित्रता और वृहत्ता, इसका प्रेम तथा प्रकाश और समस्वरता का नियम, इसकी शक्ति और अभीप्सा, इसका वस्तुओ का पवित्र तथा सुखमय भोग। (देखो, मत्र पांचवा)

और वहा यज्ञ में ये देव चतुर्गुणित प्याले, चमस चतुर्वयम्, में अमृत के प्रवाहो का पान करते हैं। क्योकि त्वष्टा, पदार्थों के रचयिता, ने आरभ में मनुष्य को केवल एक ही प्याला, भौतिक चेतना, भौतिक शरीर, दिया है, जिसमें भरकर सत्ता का आनद देवो को अर्पित किया जाय। ऋभु, प्रकाशमय ज्ञान की शक्तिया, इस त्वष्टा की बाद की क्रियाओ से पुनर्नवीकृत तथा पूर्णीकृत इस प्याले को लेते हैं और मनुष्य के अदर चार लोको की सामग्री से तीन अन्य शरीर (प्याले), प्राणमय, मनोमय और कारणभूत या विचारशरीर, निर्मित कर देते हैं। (देखो, मत्र छठा)

क्योकि उन्होने इस आनद के चतुर्गुणित प्याले को रचा है और इसके द्वारा मनुष्य को सत्य-चेतना के लोक में निवास करने योग्य कर दिया है,

---

‡देखो, ऋग्वेद ४. ३३. १-२।

इसलिये अब वे इस योग्य हैं कि इस पूर्णभूत मानव-सत्ता के अंदर मन, प्राण और शरीर में उडेले गये उच्च सत्ता के त्रिगुणित सात आनदो को प्रतिष्ठित कर सके। इनमेंसे प्रत्येक को वे सबके समुदाय में भी, प्रत्येक के पृथक् पृथक् परम-आनद की पूर्ण अभिव्यक्ति के द्वारा पूरे तौर से प्रदान कर सकते हैं। (देखो, मत्र सातवा)

ऋभुओ के अदर शक्ति है कि वे सत्ता के आनद की इन सब धाराओ को मानवीय चेतना के अदर धारण तथा स्थिर कर सके; और वे इस योग्य है कि वे अपने कार्य की परिपूर्त्ति करते हुए, इसे अभिव्यक्त हुए देवो के बीच में, प्रत्येक देव को उसका यज्ञिय भाग देते हुए, विभाजित कर सके। क्योंकि इस प्रकार का पूर्ण विभाजन ही फलसाधक यज्ञ, पूर्णतायुक्त कार्य, की समस्त शर्त है। (देखो, मत्र आठवा)

इस प्रकार के ये ऋभु हैं और वे मानवीय यज्ञ में बुलाये गये हैं इसलिये कि वे मनुष्य के लिये अमरता की वस्तुओ को रचे, जैसे कि उन्होंने उन्हें अपने लिये रचा था। "वह प्रचुर ऐश्वर्यो से परिपूर्ण (वाजी) और श्रम के लिये आवश्यक बल से परिपूर्ण (अर्वा) हो जाता है, वह आत्माभिव्यक्ति की शक्ति से ऋषि बन जाता है, वह युद्धो में शूरवीर और विद्ध कर डालने के लिये जबर्दस्त प्रहार करनेवाला हो जाता है, वह अपने अदर आनद की वृद्धि को तथा पूर्ण बल को धारण कर लेता है, जिसे कि ऋभुगण, वाज और विभ्वा, पालित करते हैं।"* ..क्योंकि तुम द्रष्टा हो और स्पष्ट विवेकयुक्त विचारक हो, इस प्रकार के तुमको अपनी आत्मा के इस विचार के साथ (ब्रह्मणा) हम अपने ज्ञानो को निवेदित करते हैं।† तुम ज्ञानयुक्त होकर, हमारे विचारो के चारों

---

*स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः।
स रायस्पोष स सुवीर्यं दधे य वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषु.॥

†(श्रेष्ठ वः पेशो अधि धायि दर्शत स्तोमो वाजा ऋभवस्त जुजुष्टन।)
धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि॥

ओर गति करते हुए हमारे लिये सब मानवीय सुखभोगो को—दीप्तिमान् ऐश्वर्यों को (द्युमन्त वाजम्) और फलवर्षक शक्ति को (वृषशुष्मम्) और उत्कृष्ट आनद को (रयिम्)—रच दो‡। यहा प्रजा को, यहा आनद को, यहा अन्त.प्रेरणा की महती शक्ति को (वीरवत् श्रव) हमारे अदर रच दो, अपने आनद में भरपूर होकर। हमें, हे ऋभुओ, उस अत्यधिक विविध ऐश्वर्य को प्रदान कर दो, जिससे कि हम सामान्य मनुष्यों को अतिक्रान्त कर वस्तुओं के प्रति जागृत चेतनावाले हो जाय§।"

---

‡यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वासो विश्वा नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाज वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वय ॥

§इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत् तक्षता नः।
येन वय चितयेमात्यन्यान् त वाज चित्रमृभवो ददा न ॥

ऋग्० ४. ३६. ६–९

बारहवां अध्याय

विष्णु, विश्वव्यापी देव

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १५४

विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोच य पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तर सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय ॥१॥

(विष्णो नु क वीर्याणि प्रवोचम्) विष्णु के वीरतापूर्ण कर्मों का इस समय मे वर्णन करता हू (य) जिस विष्णु ने (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकों को (विममे) माप लिया है, और (य) जो (उत्तर सधस्थं) हमारी आत्म-साधना के उच्चतर धाम को (अस्कभायत्) थामे हुए है, (उरुगाय) विशाल गतिवाला (त्रेधा विचक्रमाण) अपनी विश्व-व्यापी गति के तीन चरणो को रखता हुआ ॥१॥

प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

(तद्) उसको (विष्णु) विष्णु (वीर्येण) अपनी शक्ति के द्वारा (प्र-स्तवते) उच्च स्थान पर स्थापित कर देता है, और वह (भीम. कुचर. मृग न) एक भयानक शेर के समान है जो कि दुर्गम स्थानो में विचरता है, (गिरिष्ठा) उसकी गुफा पहाड की चोटियों पर है, (यस्य) जिसकी (उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) तीन विशाल गतियों में (विश्वा भुवनानि अधि-क्षियन्ति) सब लोक निवास पा लेते है ॥२॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इद दीर्घं प्रयतं सधस्थम् एको विममे त्रिभिरित् पदेभि ॥३॥

(विष्णवे) सर्वव्यापी विष्णु के प्रति (शूषम्) हमारी शक्ति और (मन्म) हमारा विचार (प्र-एतु) आगे जाय, (उरुगायाय वृष्णे गिरि-क्षिते) जो विष्णु वह विशाल गतिवाला बैल है जिसका निवासस्थान पर्वत

पर है, (य· एक) जिस अकेले ने (इद दीर्घं प्रयत सधस्थम्) हमारी आत्म-साधना के इस लबे और अत्यधिक विस्तृत धाम को (त्रिभि इत् पदेभि) केवल तीन ही चरणो में (विममे) माप लिया है॥३॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥४॥

(यस्य) जिस विष्णु के (त्री पदानि) तीन चरण (मधुना पूर्णा) मधुरस से परिपूर्ण है और वे (अक्षीयमाणा) क्षीण नहीं होते, किंतु (स्वधया मदन्ति) अपने स्वभाव की आत्मसमस्वरता द्वारा आनद उपलब्ध करते है, (य उ) जो अर्थात् वह विष्णु (एक.) अकेला ही (त्रिधातु) त्रिविध तत्त्व को और (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी तथा द्यौ को भी (विश्वा भुवनानि) सभी लोकों को (दाधार) धारण किये है॥४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णो पदे परमे मध्व उत्स॥५॥

मैं चाहता हू कि (अस्य पाथ· तत् प्रियम्) उसकी गति के उस लक्ष्य को, आनद को, (अभि-अश्याम्) मैं प्राप्त कर सकू और उसमें रस ले सकू (यत्र) जिसमें (देवयव· नर) वे आत्माए जो कि देवत्व की इच्छुक होती है (मदन्ति) आनद लेती है, (हि) क्योंकि (उरुक्रमस्य विष्णो) विशाल गतिवाले विष्णु के (परमे पदे) सबसे ऊपर के चरण में (स इत्था बन्धु·) वह मनुष्यो का मित्र रहता है जो कि (मध्व उत्स) मधुरता का स्रोत है॥५॥

ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पदमव भाति भूरि॥६॥

(ता वां वास्तूनि) वे तुम दोनों के निवास-स्थान है जिनको (गमध्यै उश्मसि) हम अपनी यात्रा के लक्ष्य के रूप में पहुचने को चाहना करते है (यत्र) जहां कि (भूरिशृङ्गा गाव) अनेक सींगोवाली प्रकाश की गौए (अयास) यात्रा करके पहुचती है, (अत्र ह) यहीं (उरुगायस्य वृष्ण) विशाल गतिवाले वृष्ण विष्णु का (परम पदम्) सर्वोच्च चरण

(भूरि) अपनी बहुविध विशालता के साथ (अव-भाति) आकर हमपर चमकता है ॥६॥

भाष्य

इस सूक्त का देवता विष्णु है, जो कि ऋग्वेद में एक दूसरे देव रुद्र, जिसने कि बाद के धर्म-सप्रदाय में एक बहुत ऊंचा स्थान पा लिया है, के साथ घनिष्ठ किंतु प्रच्छन्न सबंध को और लगभग तद्रूपता को ही रखता है। रुद्र एक भयकर और प्रचड देव है जिसका एक हितकारी रूप भी है जो कि विष्णु की उच्च आनदपूर्ण वस्तुसत्ता के निकट पहुचता है; मनुष्य के साथ तथा मनुष्य के सहायक देवों के साथ जो विष्णु की सतत मित्रता का वर्णन आता है उसपर एक बड़ी जबर्दस्त प्रचंडता का रूप भी छाया हुआ है,–विष्णु के विषय में कहा गया है "कुत्सित तथा दुर्गम स्थानों में विचरनेवाले एक भयानक शेर के रूप में"–यह ऐसा वर्णन है जो अपेक्षाकृत अधिक सामान्य तौर से रुद्र के लिये उचित है। रुद्र प्रचडतापूर्वक युद्ध करनेवाले मरुतों का पिता है, विष्णु भी पचम मडल के अतिम सूक्त में 'एवया-मरुत्' के नाम से स्तुति किया गया है जिसका अभिप्राय है कि विष्णु वह स्रोत है जिसमें से मरुत् निकले है, वह जो कि वे हो जाते है और स्वय भी वह उनकी सम्बद्ध शक्तियो की एकता तथा समग्रता के साथ तद्रूप है। रुद्र वह देव है जो कि विश्व में आरोहण-क्रिया करता है, विष्णु भी वही देव है जो आरोहण की शक्तियों की सहायता करता और उन्हें प्रोत्साहन देता है।

एक दृष्टिकोण यह था जो कि बहुत काल तक युरोपियन विद्वानों द्वारा प्रचारित किया जाता रहा कि पौराणिक देववंशावलियों में विष्णु तथा शिव की महत्ता एक बाद में हुआ विकास है और वेद में ये देव एक बिल्कुल क्षुद्र सी स्थिति रखते है तथा इन्द्र और अग्नि की अपेक्षा तुच्छ है। अनेक विद्वानों का यह एक प्रचलित मत तक बन गया है कि 'शिव' एक बाद का विचार था जो द्रवीडियों से लिया गया और यह इस बात को प्रकट करता है कि वैदिक धर्म पर देशीय संस्कृति ने जिसपर

कि इसने आक्रमण किया था आंशिक विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार की भूलों का उठना अनिवार्य ही है, क्योंकि वैदिक विचार को पूर्णत गलत रूप में समझा गया है। इस गलत समझे जाने के लिये प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथीय कर्मकाण्ड जिम्मेवार है और इसे युरोपियन विद्वत्ता ने वैदिक गाथाविज्ञान में के गौण तथा बाह्य अग पर अतिशय बल देकर केवल एक नया तथा और भी अधिक भ्रातिपूर्ण रूप ही प्रदान किया है।

वैदिक देवों की महत्ता उन देवों के लिये सूक्तो की सख्या कितनी है इस बात से या ऋषियो के विचारो में उनका आवाहन किस हद तक किया गया है इस बात से नहीं मापी जानी चाहिये, किंतु इससे मापी जानी चाहिये कि उनका व्यापार क्या है जो वे करते है। अग्नि और इन्द्र जिनके प्रति अधिकांश वैदिक सूक्त सबोधित किये गये हैं विष्णु तथा रुद्र की अपेक्षा अधिक बडे नहीं हैं, किंतु वे व्यापार जिन्हें वे आन्तरिक तथा बाह्य जगत् में करते है सबसे अधिक क्रियाकर, प्रधान तथा प्राचीन रहस्यवादियो के आध्यात्मिक अनुशासन के लिये प्रत्यक्ष तौर से फलोत्पादक हैं, केवल यही उनकी प्रधानता का कारण है। मरुत जो कि रुद्र के पुत्र हैं, अपने भयावह तथा शक्तिशाली पिता की अपेक्षा अधिक ऊचे देव नहीं हैं, किंतु उन्हें सबोधित किये गये सूक्त अनेकों है तथा अन्य देवो के साथ जुडकर तो वे और भी अधिक सातत्य के साथ वर्णित हुए हैं, क्योंकि वह व्यापार जिसे वे पूर्ण करते है वैदिक अनुशासन में एक सतत तथा तात्कालिक महत्ता का है। दूसरी तरफ विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति जो कि वाद के पौराणिक त्रैत विष्णु-शिव-ब्रह्मा के वैदिक मूल है वैदिक कर्म की आवश्यक अवस्थाओ का विधान करनेवाले है और अपेक्षाकृत अधिक उपस्थित रहनेवाले तथा अधिक क्रियाशील देवो के द्वारा, स्वय पीछे रहकर, उस कर्म में सहायता देते हैं, वे अपेक्षाकृत इसके कम समीप रहते है और देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है कि वे इसकी दैनिक गतियो में कम नैरन्तर्य के साथ वास्ता रखते है।

ब्रह्मणस्पति शब्द द्वारा रचना करनेवाला है; वह निश्चेतना के समुद्र के अंधकार में से प्रकाश को तथा दृश्य विश्व को पुकार लाता है और सचेतन सत्ता के व्यापारों को ऊपर की तरफ उनके उच्च लक्ष्य की ओर गति दे देता है। ब्रह्मणस्पति का यह रचनाशील रूप ही है जिससे ब्रह्मा (जो कि सृष्टि का रचयिता है) का पश्चात्कालीन विचार उठा है।

ब्रह्मणस्पति की रचनाओ की ऊर्ध्वमुखी गति के लिये शक्ति देता है रुद्र। वेद में उसे 'द्यौ का शक्तिशाली देव' यह नाम दिया गया है, परतु वह अपना कार्य आरभ करता है पृथ्वी पर और हमारे आरोहण के पाचो स्तरों पर यज्ञ को क्रियान्वित करता है। वह यह उग्र देव है जो कि सचेतन सत्ता की ऊर्ध्वमुखी उन्नति का नेतृत्व करता है, उसकी शक्ति सब बुराइयों से युद्ध करती है, पापी को और शत्रु को आहत कर देती है, न्यूनता तथा स्खलन के प्रति असहिष्णु वही है जो देवो में सबसे अधिक भयानक है, केवल उसी से वैदिक ऋषि कोई वास्तविक भय मानते हैं। अग्नि, कुमार, जो कि पौराणिक 'स्कन्द' का मूल है, पृथ्वी पर इसी रुद्र-शक्ति का पुत्र है। मरुत्, वे प्राणशक्तियां, जो कि बलप्रयोग द्वारा अपने लिये प्रकाश को रचती है, रुद्र के ही पुत्र है। अग्नि और मरुत उस भयकर सघर्ष के नेता है जो कि रुद्र की प्रथम पार्थिव धुंधली रचना से शुरू होकर ऊपर विचार के द्युलोकों, प्रकाशमान लोको, तक होता रहता है। किंतु यह प्रचण्ड और शक्तिशाली रुद्र जो कि बाह्य तथा आन्तरिक जीवन की सब त्रुटिपूर्ण रचनाओ को तथा समुदायो को तोड गिराता है साथ ही एक दयालु रूप को भी रखता है। वह परम भिषक्, भैषज्यकर्त्ता है। विरोध किये जाने पर वह विनाश करता है; सहायता के लिये पुकारे जाने पर तथा प्रसादित किये जाने पर वह सब घावों को तथा सब पापों को और कष्टों को निवारण कर देता है। शक्ति जो कि युद्ध करती है उसी की देन है, पर साथ ही चरम शाति और आह्लाद भी उसकी देनें है। वैदिक रुद्र के इन रूपो में उस पौराणिक शिव-रुद्र के विकास के लिये आवश्यक सब आदिम सामग्रिया विद्यमान है जो कि

पौराणिक शिव-रुद्र विनाशक तथा चिकित्सक है, मगलकारी
नक है, लोकों के अदर क्रिया करनेवाली शक्ति का अधिपति
स्वाधीनता और शाति का आनद लेनेवाला योगी है।

ब्रह्मणस्पति के शब्द की रचनाओं के लिये, रुद्र की
क्रियाओं के लिये, विष्णु आवश्यक स्थिति-शील तत्त्वो को प्र
है—अर्थात् स्थान को, लोकों की व्यवस्थित गतियो को,
धरातलों को, सर्वोपरिभूत लक्ष्य को प्रदान करता है। उसने
रखे है और उस स्थान में जो कि तीन चरणो के द्वारा ब
उसने सब लोकों को स्थापित कर दिया है। इन लोकों में व
देव निवास करता है और देवताओं की क्रिया को तथा गति
या अधिक यथायोग्य स्थान प्रदान करता है। जब इन्द्र को
वध करना होता है तब वह सर्वप्रथम विष्णु की ही स्तुति
जो विष्णु कि इस महासग्राम में उसका मित्र और साथी है
विष्णु! तू अपनी गति की पूर्ण विशालता के साथ पग उठा"†
विशालता में वह वृत्र को जो कि सीमा में बाधनेवाला है, उ
जो कि आच्छादक है, विनष्ट कर देता है। विष्णु का परम प
धाम, आनद और प्रकाश का त्रिगुणित लोक, प्रिय पदम्, है
बुद्धिमान् मनुष्य द्यौ में फैला हुआ देखते है, मानो कि
(Vision) की चमकीली आख हो‡, यही विष्णु का सर्वोच्च
जो कि वैदिक यात्रा का लक्ष्य है। यहा फिर वैदिक विष्णु पौराणि
परिपालक तथा प्रेम के अधिपति, का पूर्ववर्ती तथा उसका पर्याप्त

अवश्य ही वेद में कथित विष्णु का आधारभूत विचार उस
व्यवस्था को जो कि वहा उच्च त्रिमूर्त्ति तथा उससे छोटे देवों

---

*इन्द्रस्य युज्य सखा। १.२२.१९

†अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो वितर विक्रमस्व।

हैं, अस्वीकार करता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में केवल एक विश्वात्मक देव था जिसके विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, अग्नि, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण सब एकसमान रूप तथा विराट् अंग थे। उनमें से प्रत्येक अपने आपमें संपूर्ण देव है तथा सब अन्य देवों को अपने अंदर सम्मिलित किये हैं। उपनिषदों में जाकर इस सबसे उच्च और एक देव के विचार का पूर्ण उद्भव हो जाना जिसे कि वेद की ऋचाओं में अस्पष्ट तथा अव्याख्यात छोड़ दिया गया था और यहां तक कि कहीं कहीं जिसे नपुंसक लिंग में 'तत्' (वह) या 'एकात्मक सत्ता' (एकं सत्) कहकर छोड़ दिया गया था, और दूसरी तरफ अन्य देवों की कर्मकांडी सीमितता तथा उनके मानवीय या व्यक्तिगत रूपों का क्रमशः निर्धारित हो जाना (जो कि विकसित होते हुए गाथाविज्ञान के दबाव के अनुसार हुआ) इस बात के कारण हुए कि अंत में हिन्दू देववंशावली की पौराणिक रचना में जाकर ये देव पदच्युत हो गये तथा अपेक्षया कम प्रयोग में आये हुए तथा अधिक सामान्यभूत नामों व रूपों—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—को सिंहासन प्राप्त हो गया।

दीर्घतमस् औचथ्य के सर्वव्यापी विष्णु के प्रति कहे गये इस सूक्त में यह विष्णु का अपना अद्भुत कार्य है, विष्णु के तीन पदों की महत्ता है जिसका गान किया गया है। हमें अपने मनों से उन विचारों को जो कि बाद के गाथाशास्त्र के अनुसार बने हुए हैं, निकाल देना चाहिये। हमें यहां वामन विष्णु, दैत्य बलि और उन दिव्य तीन कदमों से कुछ वास्ता नहीं है जिन्होंने पृथिवी, द्यौ तथा पाताल के प्रकाशरहित अधोवर्ती लोकों को व्याप लिया था। वेद में विष्णु के तीन कदमों को स्पष्टतया दीर्घतमस् ने इस रूप में व्याख्यात किया है कि वे पृथिवी, द्यौ तथा उच्च त्रिगुणित तत्त्व, त्रिधातु, हैं। यह द्यौ से परे स्थित या इसके सर्वोच्च धरातल के रूप में इसके ऊपर समारोपित, नाकस्य पृष्ठे, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्व ही है जो कि इस सर्वव्यापी देव का परम पद (चरण) या सर्वोच्च धाम है।

विष्णु विस्तृत गतिवाला (उरुक्रम) देव है। यह वह है जो कि चारो तरफ गया हुआ है–जैसा कि ईश उपनिषद् के शब्दों में प्रकट किया है, स पर्यगात्,–उसने अपने को तीन रूपों में, द्रष्टा, विचारक और रचयिता के रूप में पराचेतन आनद में, मन के द्यौ में, भौतिक चेतना की पृथिवी में विस्तृत किया हुआ है, *त्रेधा विचक्रमाण । उन तीन चरणो में उसने पार्थिव* लोकों को माप लिया है, उसने उन्हें उनके सपूर्ण विस्तार के साथ रच दिया है; क्योंकि वैदिक विचार में भौतिक लोक जिसमें हम निवास करते हैं केवल अनेक पदो में से एक है जो कि अपनेसे परे के प्राणमय तथा मनोमय लोको को ले जाता है और उन्हें थामता है। उन चरणो में वह पृथिवी तथा मध्यलोक को,–पृथिवी है भौतिक लोक, मध्यलोक है वायु अर्थात् क्रियाशील जीवनतत्त्व का अधिपति, प्राणमय लोक,–त्रिगुणित द्यौ को तथा इसके तीन जगमगाते हुए ऊर्ध्वशिखरो को, त्रीणि रोचना, थामता है। इन द्युलोकों को ऋषि ने पूर्णतासाधक उच्चतर पद के रूप में (उत्तर सधस्थ) वर्णित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सचेतन सत्ता की उत्तरोत्तर प्रगतिशील आत्म-परिपूर्णता करने के त्रिविध स्थान, त्रिषधस्थ हैं, पृथिवी है निम्नस्थान, प्राणमय लोक है मध्यवर्ती, द्यौ उच्च स्थान है। ये सब विष्णु की त्रिविध गति में समाविष्ट है। (देखो, मत्र पहला)

पर इससे आगे भी है, एक वह लोक भी है जहा कि आत्म-परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है, जो कि विष्णु का सर्वोच्च पद (चरण) है। इस दूसरी ऋचा में ऋषि उसे केवल 'तद्' (उस) कहकर वर्णित करता है, "उस" को विष्णु और आगे गति करता हुआ अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा अपने तृतीय पग में प्रस्तुत करता है या दृढ़तया स्थापित कर देता है, प्र-स्तवते। इसके बाद विष्णु का वर्णन ऐसी भाषा में किया गया है जो कि भयावह रुद्र के साथ उसकी वास्तविक तद्रूपता को निर्दिष्ट करती है, लोको का भीषण और खतरनाक शेर जो कि इस होते हुए उद्भव में पशुओ के अधिपति, पशुपति, के रूप में क्रिया आरभ करता

है, और ऊपर की तरफ सत्ता के पहाड़ पर जहां कि वह निवास करता है, गति करता चलता है, अधिकाधिक कठिन और दुर्गम स्थानो के बीच से विचरता हुआ चलता जाता है जब तक कि वह ऊर्ध्वशिखरो पर नहीं जा खडा होता। इस प्रकार विष्णु की इन तीन विशाल गतियो में सब पांचो लोक और उनके प्राणी अपने निवास को प्राप्त किये हुए है। पृथिवी, द्यौ तथा वह आनदमय लोक (तद्) ये तीन पद हैं। पृथिवी और द्यौ के बीच में है अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय लोक, शाब्दिक अर्थ लें तो "मध्यवर्ती निवास"। द्यौ तथा आनदमय के बीच में एक दूसरा विस्तृत अन्तरिक्ष या "मध्यवर्ती निवास" है, महर्लोक, वस्तुओ के पराचेतनात्मक सत्य का लोक। (देखो, मत्र दूसरा)

मनुष्य की शक्ति को और मनुष्य के विचार को—शक्ति जो कि शक्तिशाली इंद्र से आती है और विचार जो कि ब्रह्मणस्पति, शब्द के रचनाशील अधिपति, से आता है—इस महती यात्रा में इस विष्णु के लिये या इस विष्णु के प्रति आगे आगे जाना चाहिये, जो विष्णु लक्ष्यस्थान पर, ऊर्ध्वशिखर पर, पहाड की अंतिम चोटी पर, खड़ा हुआ (गिरिक्षित्) है। उसी की यह विशाल विश्वव्यापी गति है; वह विश्व का बैल है जो कि गति की सब शक्तियों का और विचार के सब पशु-यूथो का आनद लेता तथा उन्हें फलप्रद बना देता है। यह दूर तक फैला विस्तृत स्थान जो कि हमारी आत्मपरिपूर्णता साधने के लोक के रूप में, महान् यज्ञ की त्रिगुणित वेदि के रूप में, हमारे सामने प्रकट होता है उस सर्वशक्तिशाली असीम के केवल तीन ही चरणो के द्वारा इस प्रकार मापा गया है, इस प्रकार रचित हो गया है। (देखो, मत्र तीसरा)

ये तीनों चरण सत्ता के आनद के मधुरस से परिपूर्ण है। उन सब को यह विष्णु अपने सत्ता के दिव्य आह्लाद से भर देता है। उसके द्वारा वे नित्य रूप से धृत हो जाते हैं और वे क्षीण या विनष्ट नहीं होते किंतु अपनी स्वाभाविक गति की आत्म-समस्वरता में सदा ही अपनी विशाल तथा असीमित सत्ता के अक्षय आनद को, अविनश्वर मद को, प्राप्त किये

विष्णु विस्तृत गतिवाला (उरुक्रम) देव है। यह वह है जो कि चारो तरफ गया हुआ है-जैसा कि ईश उपनिषद् के शब्दो में प्रकट किया है, स पर्यगात्,-उसने अपने को तीन रूपो में, द्रष्टा, विचारक और रचयिता के रूप में पराचेतन आनद में, मन के द्यौ में, भौतिक चेतना की पृथिवी में विस्तृत किया हुआ है, त्रेधा विचक्रमाण। उन तीन चरणों में उसने पार्थिव लोकों को माप लिया है, उसने उन्हे उनके सपूर्ण विस्तार के साथ रच दिया है; क्योंकि वैदिक विचार में भौतिक लोक जिसमें हम निवास करते हैं केवल अनेक पदो में से एक है जो कि अपनेसे परे के प्राणमय तथा मनोमय लोकों को ले जाता है और उन्हें थामता है। उन चरणो में वह पृथिवी तथा मध्यलोक को,-पृथिवी है भौतिक लोक, मध्यलोक है वायु अर्थात् क्रियाशील जीवनतत्त्व का अधिपति, प्राणमय लोक,-त्रिगुणित द्यौ को तथा इसके तीन जगमगाते हुए ऊर्ध्वशिखरों को, त्रीणि रोचना, थामता है। इन द्युलोकों को ऋषि ने पूर्णतासाधक उच्चतर पद के रूप में (उत्तर सधस्थ) वर्णित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सचेतन सत्ता की उत्तरोत्तर प्रगतिशील आत्म-परिपूर्णता करने के त्रिविध स्थान, त्रिषधस्थ है, पृथिवी है निम्नस्थान, प्राणमय लोक है मध्यवर्ती, द्यौ उच्च स्थान है। ये सब विष्णु की त्रिविध गति में समाविष्ट है। (देखो, मत्र पहला)

पर इससे आगे भी है, एक वह लोक भी है जहा कि आत्म-परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है, जो कि विष्णु का सर्वोच्च पद (चरण) है। इस दूसरी ऋचा में ऋषि उसे केवल 'तद्' (उस) कहकर वर्णित करता है; "उस" को विष्णु और आगे गति करता हुआ अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा अपने तृतीय पग में प्रस्तुत करता है या दृढ़तया स्थापित कर देता है, प्र-स्तवते। इसके बाद विष्णु का वर्णन ऐसी भाषा में किया गया है जो कि भयावह रुद्र के साथ उसकी वास्तविक तद्रूपता को निर्दिष्ट करती है, लोको का भीषण और खतरनाक शेर जो कि इस होते हुए उद्भव में पशुओ के अधिपति, पशुपति, के रूप में क्रिया आरभ करता

है, और ऊपर की तरफ सत्ता के पहाड पर जहा कि वह निवास करता है, गति करता चलता है, अधिकाधिक कठिन और दुर्गम स्थानो के बीच से विचरता हुआ चलता जाता है जब तक कि वह ऊर्ध्वशिखरो पर नहीं जा खडा होता। इस प्रकार विष्णु की इन तीन विशाल गतियो में सब पांचो लोक और उनके प्राणी अपने निवास को प्राप्त किये हुए हैं। पृथिवी, द्यौ तथा वह आनदमय लोक (तद्) ये तीन पद हैं। पृथिवी और द्यौ के बीच में है अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय लोक, शाब्दिक अर्थ ले तो "मध्यवर्ती निवास"। द्यौ तथा आनदमय के बीच में एक दूसरा विस्तृत अन्तरिक्ष या "मध्यवर्ती निवास" है, महर्लोक, वस्तुओ के पराचेतनात्मक सत्य का लोक। (देखो, मत्र दूसरा)

मनुष्य की शक्ति को और मनुष्य के विचार को—शक्ति जो कि शक्तिशाली रुद्र से आती है और विचार जो कि ब्रह्मणस्पति, शब्द के रचनाशील अधिपति, से आता है—इस महती यात्रा में इस विष्णु के लिये या इस विष्णु के प्रति आगे आगे जाना चाहिये, जो विष्णु लक्ष्यस्थान पर, ऊर्ध्वशिखर पर, पहाड की अतिम चोटी पर, खडा हुआ (गिरिक्षित्) है। उसी की यह विशाल विश्वव्यापी गति है, वह विश्व का वैल है जो कि गति की सब शक्तियो का और विचार के सब पशु-यूथो का आनंद लेता तथा उन्हें फलप्रद बना देता है। यह दूर तक फैला विस्तृत स्थान जो कि हमारी आत्मपरिपूर्णता साधने के लोक के रूप में, महान् यज्ञ की त्रिगुणित वेदि के रूप में, हमारे सामने प्रकट होता है उस सर्वशक्तिशाली असीम के केवल तीन ही चरणो के द्वारा इस प्रकार मापा गया है, इस प्रकार रचित हो गया है। (देखो, मत्र तीसरा)

ये तीनों चरण सत्ता के आनद के मधुरस से परिपूर्ण हैं। उन सब को यह विष्णु अपने सत्ता के दिव्य आह्लाद से भर देता है। उसके द्वारा वे नित्य रूप से धृत हो जाते हैं और वे क्षीण या विनष्ट नहीं होते किंतु अपनी स्वाभाविक गति की आत्म-समस्वरता में सदा ही अपनी विशाल तथा असीमित सत्ता के अक्षय आनद को, अविनश्वर मद को, प्राप्त किये

रहते हैं। विष्णु उन्हें अक्षय रूप में धृत कर देता है, उन्हें अविनाश्य रूप में रक्षित कर देता है। वह एक है, वही अकेला, एक-सत्ता-धारी देव है, और वह अपनी सत्ता के अदर उस त्रिविध दिव्य तत्त्व (त्रिधातु) को धारण किये है जिसे कि हम आनदमय लोक में, पृथिवी में जहा कि हमारा आधार है तथा द्यौ में भी जिसे कि हम अपने अदर विद्यमान मनोमय पुरुष के द्वारा स्पर्श करते है, अधिगत करते है। सब पाचो लोको को वह धारण किये है। (देखो, मंत्र चौथा)। त्रिधातु, त्रिविध तत्त्व या सत्ता की त्रिविध सामग्री, वेदात का 'सत्-चित्-आनद' है, वेद की सामान्य भाषा में यह वसु अर्थात् ऐश्वर्य, ऊर्ज् अर्थात् हमारे जीवन का प्रचुर बल, और प्रियम् या मयस् अर्थात् हमारी सत्ता के तत्त्व के अदर विद्यमान आनद और प्रेम है। इन तीन वस्तुओ से सब जो कुछ भी अस्तित्व में है रचा गया है और हम उनकी पूर्णता को तब प्राप्त करते है जब हम अपनी यात्रा के लक्ष्य पर पहुच जाते है।

वह लक्ष्य है आनद जो कि विष्णु के तीन पदों में से अतिम (परम) है। ऋषि अनिश्चित शब्द "तत्' को फिर लेता है जिसके द्वारा पहले उसने अस्पष्ट रूप में इसका निर्देश किया था, यह शब्द उस आनद को प्रकट करता है जो कि विष्णु की गति का लक्ष्य है। यह आनद ही है जो कि मनुष्य के लिये उसके आरोहण में आनेवाला वह लोक है जिसमें वह दिव्य सुख का स्वाद लेता है, असीम चेतना की पूर्ण शक्ति से युक्त हो जाता है, अपनी असीम सत्ता को अनुभव कर लेता है। वहा पर सत्ता के मधुरस का वह उच्च-स्थित स्रोत है जिससे कि विष्णु के तीन पद भरे हुए हैं। वहा उस मधुरता के रस के पूर्ण आनद में वे आत्माए जो कि देवत्व की इच्छुक होती है रहती है। वहा उस परम (अतिम) पद में, विशाल गतिवाले विष्णु के सर्वोच्च धाम में शहद के रस का क्षरना है, दिव्य मधुरता का स्रोत है, क्योकि वहा पर जो निवास करता है वह परम देव है, उन आत्माओ का जो कि उसकी अभीप्सा करती है पूर्ण मित्र और प्रेमी है, अर्थात् विष्णु की स्थिर और पूर्ण वस्तुसत्ता है जिसके

कि प्रति विस्तृत गतिवाला विश्वस्थ विष्णु देव आरोहण करता है। (देखो, मत्र पांचवा)

ये दो हैं, गति करनेवाला विष्णु यहा पर, सदा-स्थिर आनदास्वादक विष्णु देव वहा पर, और ये इस युगल के उच्च निवासस्थान हैं, सच्चिदानद के त्रिगुणित लोक हैं, जिन्हें कि इस लबी यात्रा के, इस महान् ऊर्ध्वमुखी गति के, लक्ष्य के तौर पर हम पहुचना चाहते हैं। वहीं को सचेतन विचार की, सचेतन शक्ति की बहुत से सींगोवाली गौएं गति कर रही है–वह उनका लक्ष्य है, वह उनका निवासस्थान है। वहां उन लोकों में इस विशाल गतिवाले बैल, उन समस्त बहुशृंगी गौओं के अधिपति और नेता,–सर्वव्यापी विष्णु जो कि विराट् देव, हमारी आत्माओं का प्रेमी और मित्र, परात्पर सत्ता तथा परात्पर आनद का अधिपति हैं, –के परमपद, सर्वोच्च धाम की विशाल, परिपूर्ण, असीम जगमगाहट रहती है जो कि यहा हमारे ऊपर आकर चमकती हैं। (देखो, मत्र छठा)

तेरहवा अध्याय

सोम, आनन्द व अमरता का अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल ९, सूक्त ८३

पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥१॥

(ब्रह्मणस्पते) हे आत्मा के अधिपति! (पवित्रं ते विततम्) तुझे पवित्र करनेवाली छाननी तेरे लिये तनी हुई है, (प्रभु) प्राणी के अंदर प्रकट होकर तू (विश्वत गात्राणि पर्येषि) उसके सब अगो में पूर्णत व्याप्त हो जाता है। (आम) जो अपरिपक्व है, और (अतप्ततनू) जिसका शरीर अग्नि के ताप में पडकर तप्त नहीं हुआ है वह (न तद् अश्नुते) उस आनद का आस्वादन नहीं कर पाता, (शृतास इत्) केवल वे ही जो कि ज्वाला के द्वारा पककर तैयार हो गये है (वहन्त) उसे धारण करने में समर्थ होते है, और (तत् समाशत) उसका आस्वाद ले पाते है ॥१॥

तपोष्पवित्र विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥२॥

(तपो पवित्रम्) तीव्र [सोम] को शुद्ध करने की छाननी (दिवस्पदे विततम्) द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई है, (अस्य तन्तव) इसके तार (शोचन्त) चमक रहे है और (व्यस्थिरन्) फैले हुए स्थित है। (अस्य आशव) इसके वेगपूर्ण आनंद-रस (पवीतारम्) उस आत्मा को जो कि उसे शुद्ध करता है (अवन्ति) प्रीणित करते है, वे [रस] (चेतसा) सचेतन हृदय के द्वारा (दिव पृष्ठम् अधितिष्ठन्ति) द्यौ के उच्च स्तर पर जा चढते है ॥२॥

अरूरुचदुषस पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयु ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षस. पितरो गर्भमा दधु ॥३॥

(अप्रिय पृश्नि) यही वह सर्वश्रेष्ठ चितकवरा बैल है जो कि (उषस अरूरुचत्) उषाओं को चमकाता है, (उक्षा) यह पुरुष (भुवनानि विभर्ति) सभूति के लोकों को धारण करता है और (वाजयु) समृद्धि के लिये प्रयत्न करता है; (मायाविन पितर.) पितरों ने जो कि निर्माण-कारक ज्ञान से युक्त थे (अस्य मायया) उस [सोम] की ज्ञान की शक्ति से (ममिरे) उसकी प्रतिमा का निर्माण किया; (नृचक्षस) दिव्य दर्शन में प्रबल उन्होंने (गर्भम् आदधु) उसे उत्पत्स्यमान शिशु की न्याईं अदर धारण किया ॥३॥

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवाना जनिमान्यद्भुत ।
गृभ्णाति रिपु निधया निधापति सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥४॥

(गन्धर्व इत्था) गंधर्व के रूप में आकर वह (अस्य पद रक्षति) उसके सच्चे पद की रक्षा करता है; (अद्भुत) परमोच्च तथा अद्भुत होकर वह (देवाना जनिमानि पाति) देवों के जन्म को रक्षित करता है, (निधापति) आंतरिक निधान का अधिपति वह (निधया) आतरिक निधान के द्वारा (रिपु गृभ्णाति) शत्रु को पकडता है। (सुकृत्तमा) वे जो कि कर्मों में पूर्णत सिद्ध हो गये है (मधुन भक्षम्) उसके मधु के भोग का (आशत) स्वाद लेते है ॥४॥

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्य नभो वसान परि यास्यध्वरम् ।
राजा पवित्ररथो वाजमारुह सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् ॥५॥

(हविष्म) हे भोजन को अपने अंदर धारण रखनेवाले ! [सोम !] (हवि.) तू वह दिव्य भोजन है, (महि) तू विशाल है (दैव्यं सद्म) दिव्य घर है; (नभ वसान) आकाश को चोगे की तरह धारण किये हुए तू (अध्वरं परियासि) यज्ञ की यात्रा को चारों ओर से परिवेष्टित करना है। (पवित्ररथ राजा) अपने रथ के तौर पर परिशुद्ध करनेवाली छाननी से युक्त, राजा तू (वाजम् आरुह) विपुल समृद्धि के प्रति ऊपर आरोहण करता है; (सहस्रभृष्टि) अपनी सहस्र जाज्वल्यमान दीप्तियो से युक्त तू (बृहत् श्रव जयसि) विशाल ज्ञान को जीत लेता है ॥५॥

भाष्य

वैदिक मन्त्रों का यह एक साफ दिखायी देनेवाला, एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है कि यद्यपि वैदिक सप्रदाय उस अर्थ में जो कि 'एकदेवतावादी' शब्द का आज अर्थ लिया जाता है, एकदेवतावादी नहीं था, तो भी वेद-मन्त्रों में निरतर कभी तो बिल्कुल खुले और सीधे तौर पर और कभी एक जटिल तथा कठिन सी पद्धति में, यह बात सदा एक आधारभूत विचार के रूप में प्रस्तुत की हुई मिलती है कि अनेक देव जिनका मन्त्रो में आवाहन किया गया है असल में एक ही देव है,—देव एक ही है उसके नाम अनेक हैं, अनेक रूपों में वह प्रकट हुआ है, अनेक दिव्य व्यक्तित्वों के छद्म-वेश में वह मनुष्य के पास पहुचा है। चाहे भारतीय मन के सामने यह दृष्टिकोण कुछ भी कठिनाई उपस्थित नहीं करता, पर पाश्चात्य विद्वान् वेद के इस धार्मिक दृष्टिकोण से चकरा गये है और उन्होने इसकी व्याख्या करने के लिये वैदिक हीनोथीज्म (Vedic Henotheism) के एक सिद्धांत का आविष्कार कर लिया है। उनका विचार है कि वस्तुत वैदिक ऋषि बहुदेवतावादी ही थे, पर वे प्रत्येक देव को ही जब कि वे उसकी पूजा कर रहे होते थे उसे ही सबसे अधिक मुख्यता वे देते थे और यहा तक कि एक प्रकार से उसे ही एकमात्र देव समझ लेते थे। 'हीनोथीज्म' का यह आविष्कार एक विदेशीय मनोवृत्ति का इस बात के लिये प्रयत्न है कि वह भारतीयों के इस विचार को किसी तरह समझ सके और उसकी कुछ व्याख्या कर सके कि दिव्य सत्ता वस्तुत एक ही है जो कि अपने आपको अनेक नामो और रूपों में व्यक्त करती है तथा उस दिव्य सत्ता का हर एक ही नाम और रूप उसके पूजक के लिये एक और परम देव होता है। देवविषयक यह विचार जो कि पौराणिक सप्रदायो का आधारभूत विचार है, पहले ही से हमारे वैदिक पूर्वजो में प्रचलित था।

वेद में पहले से ही बीजरूप में 'ब्रह्म'-सबधी वेदांतिक विचार मौजूद है। वेद एक अज्ञेय, एक कालातीत सत्ता को, उस सर्वोपरि देव को स्वी-

कार करता है जो कि न आज है न कल, जो देवों की गति से गतिमान् होता है पर स्वयं, मन जब इसे पकड़ने का यत्न करता है तो उसके सामने से अतर्धान हो जाता है (ऋग्वेद १. १७०. १)*। इसे नपुसक लिंग में 'तत्' के द्वारा वर्णित किया गया है और प्राय अमृत से, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्व से, बृहत् आनद से, जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, इसकी तद्रूपता दिखायी गयी है। ब्रह्म गतिरहित (अक्षर) है, सब देवों का एक केंद्र है। "गतिरहित ब्रह्म जो कि महान् है, गौ (अदिति) के पद के अदर पैदा हुआ है,. .वह महान् है, देवो का बल है, एक है" (३. ५५. १)†। यह ब्रह्म वह एक सत्ता है जिसे द्रष्टा ऋषि भिन्न भिन्न नाम देते है, इन्द्र, मातरिश्वा, अग्नि (१.१६४.४६)‡।

यह ब्रह्म, यह 'एक सत्', जिसे कि इस प्रकार भाववाचक (अपुरुष-वाचक) रूप में नपुसक लिंग में वर्णित किया गया है, इस प्रकार भी निरूपित किया गया है कि यह देव है, परम देवता है, वस्तुओं का पिता है जो कि यहा मानवीय आत्मा होकर पुत्र के रूप में प्रकट होता है। वह आनदमय है, जिसे पाने को देवों की गति आरोहण में अग्रसर होती है, वह एक साथ पुरुष और स्त्री, वृषन्, घेनु, दोनो के रूप में व्यक्त हुआ है। देवों में से प्रत्येक ही उस परम देव की एक अभिव्यक्ति है, एक स्वरूप है, एक व्यक्तित्व है। वह अपने किसी भी नाम और रूप द्वारा, इन्द्र द्वारा, अग्नि द्वारा, सोम द्वारा साक्षात्कृत किया जा सकता है, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक अपने में एक पूर्ण देव है और हमें दीखनेवाले केवल अपने उपरिपार्श्व या रूप में ही वह औरों से भिन्न लगता है, वैसे वह अपने अदर सब देवों को धारण किये होता है।

---

*न नूनमस्ति नो श्व कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीत विनश्यति॥

† .महद् विजज्ञे अक्षरं पदे गो।. ..महद् देवानामसुरत्वमेकम्।

‡एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु।

इस प्रकार अग्नि की एक सर्वोच्च तथा विराट् देव के रूप में स्तुति की गयी है, "तू, हे अग्नि! जब पैदा होता है तब वरुण होता है, जब पूर्णत प्रदीप्त हो जाता है तब तू मित्र होता है, हे शक्ति के पुत्र! तेरे अंदर सब देव विद्यमान है, हवि देनेवाले मर्त्य के लिये तू इन्द्र होता है‡। तू अर्यमा होता है जब कि तू कन्याओं के गुह्य नाम को धारण करता है। जब तू गृहपति और गृहपत्नी (दम्पती) को एक मनवाला करता है तब वे तुझे किरणो से (गौओं से, गोभि) चमका देते हैं, सुधृत मित्र की तरह§। तेरी महिमा के लिये हे रुद्र! मरुत उसे अपने पूरे जोर से चमकाते है जो कि तेरा चारु और चित्र-विचित्र जन्म है। जो विष्णु का परम पद है उसके द्वारा तू किरणो के (गौओ के, गोनाम्) गुह्य नाम का रक्षण करता है*। तेरी महिमा के द्वारा हे देव! देवता सत्यदर्शन को पा लेते हैं और (बृहत् अभिव्यक्ति की) सपूर्ण बहुता को अपने अदर धारण करके वे अमृत का आस्वादन करते हैं। मनुष्य अपने अदर यज्ञ के होता के रूप में अग्नि को स्थित करते है, जब कि (अमृत की) इच्छा करते हुए वे सत्ता की आत्म-अभिव्यक्ति को (देवो के लिये) अर्पित कर देते हैं†। तू ज्ञानी होकर पिता का उद्धार कर और (पाप तथा अधकार को) दूर भगा दे, वह जो कि हमारे अदर तेरे पुत्र के रूप में पैदा हुआ है, हे शक्ति

---

‡त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्व मित्रो भवसि यत् समिद्ध।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ ऋग्० ५.३ १

§त्वमर्यमा भवसि यत्कनीना नाम स्वधावन् गुह्य बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्र सुधितं न गोभि र्यद्दम्पती समनसा कृणोषि ॥ ऋग्० ५ ३ २

*तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
पद यद्विष्णोरुपम निधायि तेन पासि गुह्य नाम गोनाम् ॥ ऋग्० ५.३.३

†तव श्रिया सुदृशो देव देवा पुरू दधाना अमृत सपन्त।
होतारमग्नि मनुषो निषेदुर्दशस्यन्त उशिज शसमायो ॥ ऋग्० ५ ३ ४

के पुत्र!"§ (५.३.९)। इन्द्र की भी इसी प्रकार की स्तुति वामदेव ऋषि द्वारा की गयी है, और इस ९म मंडल के ८३वें सूक्त में, जैसा कि अन्य भी कई सूक्तों में है, सोम भी अपने विशेष व्यापारो से सर्वोच्च देव के रूप में प्रकट होता है।

सोम आनंद के रस का, अमृत-रस का अधिपति है। अग्नि ही की तरह वह पौधो में, पार्थिव उपचयों में और जलो में पाया जाता है। सोम-रस जो कि बाह्य यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है इसी आनन्द-रस का प्रतीक है। यह पीसने के पत्थर (अद्रि, ग्रावा) के द्वारा निचोडा जाता है, इस सोम पीसने के पत्थर का विद्युद्वज्र, इन्द्र की वज्रभूत विद्युत्-शक्ति जिसे भी 'अद्रि' ही कहा जाता है, के साथ घनिष्ठ प्रतीकात्मक सबंध है। वेदमंत्र इसी पत्थर की प्रकाशमय गर्जनाओं का वर्णन कर रहे होते है जब कि वे इन्द्र के वज्र के प्रकाश और शब्द का वर्णन करते है। एक बार सत्ता के आनन्द के रूप में सोम को निचोड़कर निकाल लिये जाने पर फिर इसे छाननी (पवित्र) के द्वारा परिशुद्ध करना होता है और छाननी में से छनकर वह अपने पवित्र रूप में रस के प्याले (चमू) में आता है जिसमें रखा जाकर वह यज्ञ में लाया जाता है, या वह इन्द्र को पान कराने के लिये 'कलशों' में भर लिया जाता है। अथवा, कहीं कहीं इस प्याले या कलश का प्रतीक उपेक्षित कर दिया गया है, और सोम का सीधे इस तरह वर्णन किया गया है, कि वह आनन्द की धारा के रूप में प्रवाहित होकर देवों के घर में, अमृत के सदन में, आता है। ये वर्णन प्रतीकरूप है यह बात नवम मंडल के अधिकांश सूक्तो में, जो कि सारे ही सोमदेवतापरक हैं, बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, यहा सोमरस का कलश मनुष्य के भौतिक शरीर का प्रतीक है और इस छाननी के लिये जिससे छानकर इसे परिशुद्ध किया जाता है यह कहा गया है कि वह द्यौ के स्थान में, दिवस्पदे, तनी हुई है।

---

§अव स्पृधि पितर योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहस. सून ऊहे। .. ५.३.९

इस सूक्त का प्रारंभ एक आलंकारिक वर्णन से होता है जिसमें सोम-रस को छानकर शुद्ध करने तथा इसे कलश में भरने के भौतिक कार्यों के साथ पूरा पूरा रूपक बांधा गया है। द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई छाननी या परिशुद्ध करने का उपकरण ज्ञान (चेतस्) से प्रकाशित हुआ मन प्रतीत होता है; मनुष्य का भौतिक शरीर कलश है। पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते, छाननी तेरे लिये फैली हुई है, हे आत्मा के अधिपति, प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः, अभिव्यक्त होकर तू सर्वत्र अंगों में व्याप्त हो जाता है या अंगों के चारों तरफ गति करने लगता है। सोम को यहां 'ब्रह्मणस्पति' नाम से संबोधित किया गया है, जो नाम कहीं कहीं अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हुआ है पर प्रायः जो बृहस्पति, रचनाकारक शब्द के अधिपति, के लिये नियत है। 'ब्रह्म' वेद में वह आत्मा या आत्मिक चेतना है जो कि वस्तुओं के गुह्य हृदय के अंदर से आविर्भूत होती है, किंतु अधिकतर यह वह अन्तःप्रेरित, रचनाकारक, गुह्य सत्य से परिपूर्ण विचार है जो कि उस चेतना के अंदर से उद्भूत होता है और मन का विचार, मन्म, बन जाता है। तो भी, यहां इसका अभिप्राय स्वतः आत्मा ही प्रतीत होता है। सोम, आनंद का अधिपति, वह सच्चा रचयिता है जो कि आत्मा को धारण करता है और उस आत्मा में से एक दिव्य रचना को उत्पन्न कर देता है। उसके लिये मन और हृदय प्रकाशित होकर छाननी बना दिये गये हैं; इसमेंकी चेतना सर्वविध संकीर्णता और द्वेष से मुक्त होकर व्यापक रूप में विस्तृत कर दी गयी है ताकि वह इन्द्रिय-जीवन तथा मनोमय जीवन के पूर्ण प्रवाह को प्राप्त कर सके और इसे वास्तविक सत्ता के विशुद्ध आनंद में, दिव्य आनंद में, अमर आनंद में परिणत कर सके।

इस प्रकार गृहीत होकर, साफ होकर, छाना जाकर जीवन का सोम-रस आनंद में परिणत होकर मानव-शरीर के समस्त अंगों के अंदर झरता हुआ आता है, जैसे कि किसी कलश में, और उन सबके अंदर से गुजरता हुआ पूर्णतः उनके एक-एक भाग में प्रवाहित हो जाता है। जिस प्रकार किसी मनुष्य का शरीर तीव्र मदिरा के संस्पर्श तथा मद से परि-

पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार सारा भौतिक शरीर इस दिव्य आनंद के सस्पर्श तथा मद से परिपूरित हो जाता है। 'प्रभु' और 'विभु' शब्द वेद में बाद के "स्वामी" अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए है, किंतु एक नियत आध्यात्मिक अर्थ में आये है, जैसे कि बाद की भाषा में प्रचेतस् और विचेतस् या प्रजानन् और विजानन्। "विभु" का अर्थ है इस प्रकार का होना कि व्यापक रूप में अस्तित्व में आना, "प्रभु" का अर्थ है ऐसा होना कि चेतना के सम्मुख भाग में एक विशेष बिन्दु पर किसी विशेष वस्तु या अनुभूति के रूप में अस्तित्व में आना। सोमरस मदिरा की तरह से छाननी में से बूंद बूंद करके निःसृत होता है और उसके बाद कलश में व्याप्त हो जाता है; यह किसी विशेष बिंदु पर केंद्रित हुई चेतना के अंदर उद्भूत होता है, प्रभु, या ऐसे आता है जैसे कि कोई विशेष अनुभूति, और फिर आनद बनकर समस्त सत्ता को व्याप्त कर लेता है, विभु।

किंतु प्रत्येक मानव-शरीर ऐसा नहीं है कि वह उस दिव्य आनद के प्रबल और प्रायःकर प्रचंड मद को ग्रहण कर सके, सम्हाल सके, और उसका उपभोग कर सके। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते, वह जो कि कच्चा है और जिसका शरीर तप्त नहीं हुआ है उसका आस्वादन नहीं कर सकता या उसका रस नहीं ले पाता, शृतास इद् वहन्त तत् समाशत, केवल वे ही जो कि अग्नि में पक चुके है उसे धारण कर पाते है और पूर्णत उसका स्वाद ले सकते है। शरीर के अदर उडेला हुआ दिव्य जीवन का रस एक तीव्र, उमडकर प्रवाहित होनेवाला और प्रचंड आनंद है, उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बड़ी से बड़ी अग्नि-ज्वालाओं में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्टसहन और अनुभव द्वारा इसके लिये तैयार नहीं हो पाया है। मिट्टी का कच्चा घडा जो कि आवे की आच के द्वारा पककर दृढ़ नहीं हो गया है सोमरस को नहीं थाम सकता, यह टूट जाता है और बहुमूल्य रस को बखेर देता है। इसी प्रकार मनुष्य का भौतिक शरीर जो कि आनद के तीव्र रस को पीना चाहता है, कष्टसहन के द्वारा तथा जीवन की सब

उत्पीड़नकारी अग्नियों पर विजय पाने के द्वारा, सोम की रहस्यमय तथा आग्नेय तीव्रता के लिये तैयार हो चुका होना चाहिये, नहीं तो उसकी सचेतन सत्ता इसे थामने में समर्थ नहीं हो सकेगी, वह उसे चखते ही या चखने से भी पहले बखेर देगी और खो देगी या वह इसके स्पर्श से मानसिक तौर पर और भौतिक तौर पर भग्न हो जायगी, टूट जायगी। (देखो, मंत्र पहला)

इस तीव्र तथा आग्नेय रस को शुद्ध करने की आवश्यकता है और इसे शुद्ध करने के लिये छाननी द्यौ के पृष्ठ पर विस्तृत रूप में फैलायी जा चुकी है ताकि यह उसमें आकर पड़े, तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे, इसके तन्तु या रेशे सब पवित्र प्रकाश के बने हैं और इस तरह लटके हुए हैं जैसे कि किरणें, शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्। इन रेशों के बीच में से रस की धाराओं को प्रवाहित होकर निकलना है। यह रूपक स्पष्ट ही विशुद्धीकृत मानसिक तथा आवेशात्मक चेतना, सचेतन हृदय, चेतस्, की ओर संकेत करता है, विचार और आवेश ही जिसके तन्तु या रेशे हैं। द्यौ है विशुद्ध मानसिक लोक जो कि प्राण तथा शरीर की प्रतिक्रियाओं का विषय नहीं होता। द्यौ के,—उस विशुद्ध मानसिक सत्ता के जो कि प्राणमय तथा भौतिक चेतना से भिन्न है,—पृष्ठ पर विचार और आवेश सच्चे बोध तथा सुखमय भौतिक स्पन्दन की पवित्र किरणें बन जाते हैं और उन पीड़ित तथा अंधकाराच्छादित मानसिक, आवेशात्मक और ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाओं को जो कि अब तक हमारे अवर होती थीं, छोड़ देते हैं। संकुचित और कम्पायमान वस्तुएं, जो कि दुःख के तथा अनुभव के धक्कों के बाहुल्य से अपना बचाव करने में लगी रहती हैं, रहने के बजाय, वे अब स्वतंत्र, दृढ़ और चमकदार बनकर खड़े होते हैं और आनंदपूर्वक अपने को विस्तृत कर लेते हैं ताकि विश्वव्यापी सत्ता के समस्त संभाव्य संस्पर्शों को वे ग्रहण कर सकें तथा उन्हें दिव्य आनंद में परिणत कर सकें। इसलिये सोम को छानने की छाननी को सोम के ग्रहण करने के लिये द्यौ के पृष्ठ पर, दिवस्पदे, फैली हुई बताया गया है।

इस प्रकार गृहीत तथा विशुद्धीकृत होकर ये तीव्र और प्रचण्ड रस, ये सोम-रस की वेगवती तथा मद ला देनेवाली शक्तिया, अब मन को विक्षुब्ध या शरीर को आहत नहीं करतीं, अब विखरतीं या व्यर्थ नहीं जातीं, किंतु अपने परिशुद्ध करनेवाले के मन तथा शरीर को प्रीणित करती और बढ़ाने लगती हैं, अवन्ति; अवन्त्यस्य पवीतारमाशव । इस प्रकार उसके मानसिक, आवेशात्मक, सवेदनात्मक और भौतिक सत्ता के समग्र आनद में उसे बढाते हुए वे रस उसे लेकर विशुद्धीकृत तथा आनदपूर्ण हृदय में से होकर द्यौ के सर्वोच्च पृष्ठ या स्तर की ओर उठ जाते हैं, अर्थात् स्व के उस प्रकाशमान लोक की ओर जहा कि मन जो कि अन्तर्ज्ञान (Intuition), अन्तःप्रेरणा (Inspiration), स्वतःप्रकाश ज्ञान (Revelation) को ग्रहण करने में समर्थ हो चुका है, सत्य (ऋतम्) की उज्ज्वलता में स्नान कर लेता है, विशालता (बृहत्) की असीमता में उन्मुक्त हो जाता है। दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा। (देखो, मत्र दूसरा)

यहां तक ऋषि ने सोम का वर्णन उसकी भावरूप (अपुरुषरूप) अभिव्यक्ति के तौर पर, मनुष्य की सचेतन अनुभूति में आनेवाले आनद या दिव्य सत्ता के सुख के तौर पर, किया है। अब वह, जैसी कि वैदिक ऋषियों की प्रवृत्ति है, दिव्य अभिव्यक्ति से दिव्य पुरुष की तरफ मुड़ता है और तुरत सोम परम पुरुष, उच्च तथा विश्वव्यापी देव, के रूप में प्रकट होता है। अरूरुचद् उपस पृश्निरग्रिय, परम चितकबरा होकर वह उषाओ को चमकाता है, उक्षा विभर्त्ति भुवनानि वाजयु ; वह बैल, लोकों को धारण करता है, समृद्धि को चाहता हुआ। पृश्नि (चितकबरा) शब्द दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, बैल अर्थात् परम पुरुष और गौ अर्थात् स्त्रीभूत शक्ति, रगवाची सभी शब्दो, श्वेत, शुक्र, हरि, हरित्, कृष्ण, हिरण्यय की तरह वेद में यह (पृश्नि) भी प्रतीकात्मक है, रग, वर्ण, रहस्यवादियो की भाषा में सदा गुण, स्वभाव आदि को बताता है। चितकबरा बैल वह देव है जो अपनी अभिव्यक्ति में विविधतावाला है, अनेकवर्ण

है। सोम ही वह प्रथम सर्वश्रेष्ठ चितकबरा बैल, सभूति के लोकों का उत्पादक है, क्योंकि उस आनद में से, सर्वानदपूर्ण में से ही वे सब निकलते है, आनद ही सत्ताओं की विविधता का पिता है। वह बैल है, उक्षा है, 'उक्षन्' शब्द का अर्थ अपने पर्यायवाची 'वृषन्' की तरह वर्षक, उत्पादक, वीर्यसेचक, प्रचुरता का पिता, बैल, पुरुष होता है; यह वह है जो चेतना की शक्ति को, प्रकृति को, गौ को उपजाऊ बना देता है और अपनी प्रचुरता की धारा के द्वारा लोको को पैदा करता तथा धारण करता है। वह उषाओ को,—प्रकाश की उषाओ को, सूर्य की चमकीली 'गौओं' की माताओ को,—चमका देता है, और वह समृद्धि की अर्थात् सत्ता, शक्ति और चेतना की परिपूर्णता की, देवत्व के बाहुल्य की जो कि दिव्य आनद की शर्त है, इच्छा करता है। दूसरे शब्दों में वह आनद का अधिपति (सोम) ही है जो कि हमें सत्य की दीप्तिया और बृहत् की विपुल समृद्धिया, जिनके द्वारा हम अमरत्व प्राप्त करते है, प्रदान करता है। (देखो, तीसरे मत्र का पूर्वार्द्ध)

पितरों ने जिन्होंने कि सत्य को खोज लिया था, सोम के रचनाशील ज्ञान को, उसकी माया को ग्रहण कर लिया और उस आदर्शभूता (ideal) तथा कल्पिका (ideative) परम देव की चेतना के द्वारा उन्होंने मनुष्य के अदर उस (सोम) की प्रतिमा को रच दिया, उन्होने उसे जाति के अदर एक अनुत्पन्न गर्भ में विद्यमान शिशु के रूप में, मनुष्य में वर्तमान देवत्व के बीज के रूप में, उस जन्म के रूप में जो कि मानव चेतना के कोष के अदर से होना है, प्रतिष्ठित कर दिया। मायाविनो ममिरे अस्य मायया, नृचक्षस पितरो गर्भमादधु। ये पितर है वे प्राचीन ऋषि जिन्होंने वैदिक रहस्यवादियों के मार्ग को खोजकर पता लगाया था, और जो ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक रूप में अब भी विद्यमान है और जाति की भवितव्यता के अधिष्ठाता है और देवों की तरह मनुष्य के अदर उसके अमरत्व की प्राप्ति के लिये कार्य करते है। ये वे ऋषि है जिन्होंने प्रबल दिव्य दर्शन प्राप्त किया था, नृचक्षस, उस सत्य-दर्शन

(Truth-vision) को प्राप्त किया था जिसके द्वारा वे पणियों से लुका दी गयी गौओ को ढूढ़ लेने में तथा रोदसी को, मानसिक और भौतिक चेतना की, सीमाओं को पार करके पराचेतन को, बृहत् सत्य और आनद को, पा लेने में समर्थ हो सके थे (देखो, ऋग्वेद १ ३६ ७; ४ १.१३-१८, ४ २ १५-१८ आदि)। (मत्र तीसरा समाप्त)

सोम गधर्व है, आनंद की सेनाओ का अधिपति है, और वह देव के सच्चे पद को, आनद के पृष्ठ या स्तर को, रक्षा करता है; गधर्व इत्या पदमस्य रक्षति। वह सर्वोच्च है, अन्य सब सत्ताओ से बाहर तथा उनके ऊपर स्थित है, उनसे भिन्न और अद्भुत है, और इस प्रकार सर्वोच्च तथा सर्वातीत होता हुआ, लोकों के अदर विद्यमान किंतु उन्हें अतिक्रमण करता हुआ वह उन लोकों के अदर देवो के जन्मो की रक्षा करता है, पाति देवाना जनिमानि अद्भुत। "देवो के जन्म" वेद में एक सामान्य मुहावरा है जिससे विश्व के अदर दिव्य तत्वो की अभिव्यक्ति होना और विशेषकर मनुष्य के अदर विविध रूपों में देवत्व का निर्माण होना अभिप्रेत है। गत ऋचा में ऋषि ने इस देव का इस रूप में वर्णन किया था कि वह दिव्य शिशु है जो कि जन्म पाने के लिये तैयार हो रहा है,—विश्व में, मानवीय चेतना के अदर आवृत हुआ पड़ा है। यहा वह उसके विषय में यह कहता है कि वह सर्वातीत है और वह मनुष्य के अदर निर्मित हुए हुए आनद के लोक की तथा दिव्य ज्ञान के द्वारा उसके अदर पैदा हुए हुए देवत्व के रूपो की, शत्रुओ, विभाजन की शक्तियो, असुख की शक्तियो (द्विष, अराती) के आक्रमणों से, अपने अधकारपूर्ण तथा मिथ्या रचना करनेवाले ज्ञान, अविद्या, भ्रम के रूपों सहित अदिव्य सेनाओं से, रक्षा करता है।

क्योकि वह इन आक्रामक शत्रुओ को आंतरिक चेतना के जाल में पकड़ लेता है, वह उस विश्व-सत्य तथा विश्वानुभूति के निधान (विन्यास, सनिवेश) का अधिपति है जो कि इद्रियो तथा बाह्य मन से रचित निधान (विन्यास) की अपेक्षा अधिक गभीर और अधिक सत्य है। इसी आंतरिक

निधान के द्वारा यह मिथ्यात्व, अंधकार तथा विभाजन की शक्तियों को पकड़ता है और उन्हें सत्य, प्रकाश तथा एकता के नियम में ला देता है, गृभ्णाति रिपु निधया निधापति। इसलिये जो मनुष्य इस आतरिक प्रकृति पर शासन करनेवाले आनद के अधिपति से रक्षित होते हैं वे अपने विचारो और क्रियाओ को आतरिक सत्य तथा प्रकाश के अनुकूल कर लेने में समर्थ हो जाते हैं और फिर बाह्य कुटिलता की शक्तियो के द्वारा स्खलन को प्राप्त नहीं कराये जाते, वे सीधे चलते है, वे अपने कार्यों में बिल्कुल पूर्ण हो जाते है और अदर होनेवाली क्रिया तथा बाह्य कर्म के इस सत्य द्वारा सत्ता के समग्र माधुर्य को, मधु को, उस आनंद को जो कि आत्मा का भोजन है, आस्वादन करने के योग्य बन जाते है। सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत। (देखो, मत्र चौथा)

यहा सोम इस रूप में प्रकट होता है कि वह हव्य, दिव्य भोजन, आनद तथा अमरता का रस, 'हवि', है और वह, उस दिव्य हवि का अधिपति, देव ('हविष्म') है, ऊपर वह विशाल और दिव्य घर है, वह पराचेतन आनद और सत्य, बृहत्, है जिसमेंसे सोम-रस अवरोहण करके हमारे समीप पहुचता है। आनद के रस के रूप में वह इस यज्ञ की महान् यात्रा, जो कि भौतिकता से पराचेतन की ओर मनुष्य की प्रगति है, के चारो ओर प्रवाहित हो पडता है तथा उसके अदर प्रविष्ट हो जाता है। वह धुधले आकाश, नभस्, अर्थात् मनोमय तत्त्व को अपने चोगे और आवरण के तौर पर धारण किये हुए इसके अदर प्रविष्ट होता है और इसे चारो ओर से घेर लेता है। हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्य, नभो वसान परि यासि अध्वरम्। दिव्य आनद हमारे पास मानसिक अनुभूति के रूपों के चमकीले-धुधले आवरण को धारण किये हुए आता है।

उस यात्रा या यज्ञिय आरोहण में यह सर्वानदपूर्ण देव हमारी सब क्रियाओं का राजा बन जाता है, हमारी दिव्यीकृत प्रकृति का और उसकी शक्तियों का स्वामी हो जाता है और प्रकाशाविष्ट सचेतन हृदय को रथ बनाकर असीम तथा अमृत अवस्था की विपुल समृद्धि के अदर आरोहण कर

जाता है। सूर्य या अग्नि की तरह सहस्र जाज्वल्यमान शक्तियों से परिवृत होता हुआ वह अन्त प्रेरित सत्य के, पराचेतन ज्ञान के, विशाल प्रदेशो को जीत लेता है, राजा पवित्ररथो वाजमारुह, सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत्। यह रूपक उस विजेता राजा का है जो कि शक्ति और तेज में सूर्यसदृश होता हुआ किसी विशाल राज्य पर विजय पा लेता है। यह अमरता है जिसे कि वह विशाल सत्य-चेतना में, 'श्रव' में जिसपर अमृत अवस्था प्रतिष्ठित है, मनुष्य के लिये जीत लेता है। यह उसका अपना वास्तविक धाम, इत्था पदम् अस्य, है जिसे कि मनुष्य के अदर छिपा हुआ वह देव अधकार और सध्या से निकलकर उषा के प्रकाशो में से होता हुआ सौर समृद्धियो में आरोहण करके जीतता है। (देखो, मत्र पाचवा)

वक्तव्य

अंतिम वचन

इस सूक्त के साथ मै ऋग्वेदीय 'चुने हुए सूक्तों' की इस लेखमाला को समाप्त करता हू। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि मै ठीक ठीक उदाहरणों से वेद के रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए जितना भी सभव हो उतने सक्षेप में वैदिक देवो (देवताओ) के वास्तविक व्यापारो को, उन प्रतीकों के आशय को जिनमें कि उनका विषय व्यक्त किया गया है, और यज्ञ के स्वरूप तथा यज्ञ के लक्ष्य को दिखाऊ। मैंने जान-बूझकर कुछ छोटे छोटे और सरल सरल सूक्त ही चुने है और वे उपेक्षित कर दिये है जो कि बड़ी ही चित्ताकर्षक गहराई को, विचार और रूपक की सूक्ष्मता व जटिलता को रखते हैं,–इसी तरह उन्हें भी छोड़ दिया है जिनमें कि आध्यात्मिक आशय स्पष्ट तौर से और पूर्ण रूप से उनके उपरिपृष्ठ पर ही रखा हुआ है तथा उन्हें जो कि अपनी अति ही अद्भुतता तथा गहनता के द्वारा रहस्यवादी और पवित्र कविताओ के अपने वास्तविक स्वरूप को

प्रकट करते हैं। आशा है कि ये उदाहरण पाठक को, जो कि खुले मन से इनका अध्ययन करेगा, इस हमारी प्राचीनतम और महत्तम वैदिक कविता के वास्तविक आशय को दर्शाने के लिये पर्याप्त होंगे। (अन्य अनुवादों के द्वारा, जो कि अपेक्षया अधिक सामान्य स्वरूप के होंगे, यह दिखाया जायगा कि ये विचार केवल कुछ ही ऋषियों के उच्चतम विचार नहीं हैं, किंतु ये विचार और शिक्षाएं ऋग्वेद में व्यापक रूप से पायी जाती हैं।)*

---

*यह श्रीअरविन्द का वह वक्तव्य है जो कि उन्होंने इन अध्यायों को समाप्त करते हुए लिखा है।

अंतिम वाक्य (जिसे हमने कोष्ठ में कर दिया है) में सूचित जो अनुवाद हैं उन्हें हम 'वेद-रहस्य' के तृतीय खण्ड में पाठकों को दे रहे हैं। —अनुवादक

अनुक्रमणिका (१)

(इस ग्रंथ में आये विशिष्ट विषयो तथा उल्लेखों को)*

---

*इस अनुक्रमणिका में प्रारभ में लिखे अक पृष्ठों को सूचित करते हैं, । इस चिह्न के उपरात लिखे अक पक्तियों को। - इस चिह्न से क्रमिक सातत्य सूचित होता है जैसे ९-१२ का अर्थ है ९, १०, ११, १२।

अनुक्रमणिका (२)

(इस ग्रंथ में उल्लिखित वैदिक मन्त्रो तथा मन्त्रांशो की)*

*इस अनुक्रमणिका में मन्त्रो के आगे लिखे तीन अंक क्रमश मण्डल, सूक्त और मन्त्र को सूचित करते हैं और उसके आगे कोष्ठ में लिखी संख्या इस पुस्तक के पृष्ठ को सूचित करती है।

श्रीअरविन्द आश्रम मुद्रणालय, पांडिचेरी
५५३–४८–१०००